# अनुभूति के आलोक से

शान्ति मुनि

पुस्तक

अनुभूति के आलोक से

लेखक

श्री शान्ति मुनि

प्रकाशक

श्री अ. भा. व. साधुमार्गी जैन संघ, समता भवन,
रामपुरिया मार्ग, बीकानेर (राज.)

द्वितीय संस्करण, 1987

मूल्य – 20 रूपये

अर्थ सौजन्य

श्री जीवन चन्द जी इन्द्रचन्द जी बैद

मुद्रक – शशि प्रिन्टर्स, उदयपुर (राज.)

प्राप्ति स्थान :- अ. भा. साधुमार्गी,
जैन संघ, बीकानेर,
राजस्थान–334001

चिर पोषित साधना

की

अनुभूतियों के

आलोक से

अनुगुंजित

आचार्य श्री नानेश

के

महिमा मण्डित व्यक्तित्व

को

– शान्ति मुनि

# प्रकाशकीय

साधुमार्ग की इस पवित्र–पावन धारा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये बड़े-बड़े आचार्यों ने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। भगवान महावीर के बाद अनेक बार आगमिक धरातल पर क्रान्ति का प्रसंग आया है। जिसका उद्देश्य श्रमण संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने का रहा। ऐसी क्रान्ति धारा में क्रियोद्धारक, महान आचार्य श्री हुक्मीचन्द जी म. सा. का नाम विशेष रूप से उभरकर सामने आता है। तत्कालीन युग में जहां शिथिलाचार व्यापक तौर पर फैलता जा रहा था, शुद्ध साधुत्व की स्थिति विरल ही परिलक्षित होती थी। बड़े-बड़े साधु भी मठों की तरह उपाश्रयों में अपना स्थान जमाये हुए थे। चेलों के पीछे साधुता बिखरती जा रही थी। ऐसे युग में आचार्य श्री हुक्मीचन्द जी म. सा. ने उपदेशों से ही नहीं, अपितु अपने विशुद्ध एवं उत्कृष्ट संयममय जीवन से जन-मानस को प्रभावित किया। आचार्य प्रवर केवल तपस्वी अथवा संयमी ही नहीं थे, वरन् श्रमण–संस्कृति के गहरे आगमिक अध्येता श्रुतधर थे। आपके जीवन का ही प्रभाव था कि हजारों स्त्री पुरुष आपके चरण सानिध्य को पाने के लिये लालायित रहते थे। "तिन्नाणं तारयाणं" के आदर्श आचार्य प्रवर ने योग्य मुमुक्षुओं को दीक्षित किया और जो देशव्रती बनना चाहते थे, उन्हें देशव्रती बनाया। इस प्रकार सहज रूप से ही चतुर्विध संघ का प्रवर्तन हो गया।

समुद्र में जिस प्रकार दूर तक गंगा का पाट दिखलाई देता है, वैसे ही जैन धर्म के समुद्र में आचार्य प्रवर की यह धारा एक दम अलग-थलग सी परिलक्षित होने लगी। यहां से फिर साधु मार्ग में एक क्रान्ति घटित हुई। जो क्रान्ति की धारा पश्चात्वर्ती आचार्यों से निरन्तर आगे बढ़ी। आज हमें परम प्रसन्नता है कि समता विभूति विद्वत् शिरोमणि, जिन-शासन प्रद्योतक, धर्मपाल प्रतिबोधक आचार्य श्री नानेश के सान्निध्य की हमें प्राप्ति हुई है। श्रद्धेय आचार्य प्रवर का व्यक्तित्व कर्त्तृत्व अनूठा

एवं महनीय है। आपने एक साथ २५ (पच्चास) दीक्षाएं देकर सैकड़ों वर्षों के अतीत के इतिहास को प्रत्यक्ष कर दिखाया है। ऐसी एक नहीं अनेक क्रान्तियां आचार्य प्रवर के सान्निध्य में घटित हो रही हैं। विशुद्ध संयम पालन के साथ-साथ आपके सान्निध्य में आपके शिष्य-शिष्या रूप साधु—साध्वी वर्ग ने सम्यक् ज्ञान—विज्ञान की दिशा में भी आश्चर्यजनक विकास किया है।

शान्त क्रान्ति के अग्रदूत स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. की स्मृति में श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ ने रतलाम में श्री गणेश जैन ज्ञान—भण्डार की स्थापना की। ज्ञान भण्डार में अनेका-नेक प्रकाशित एवं हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह हुआ है। हस्तलिखित अप्रकाशित ग्रन्थों का संचयन कर उन्हें भी अ. भा. साधुमार्गी जैन साहित्य समिति सर्वजन हितार्थ प्रकाशन कर रही है। इसी संकल्प की क्रियान्विति में इस कृति को भी श्री गणेश जैन ज्ञान—भण्डार से प्राप्त कर प्रकाशित करने में संघ हार्दिक सन्तुष्टि का अनुभव कर रहा है।

## "अनुभूति के आलोक से"

प्रस्तुत कृति में आचार्य श्री नानेश के अन्तेवासी विद्वान शिष्य पण्डित रत्न श्री शान्ति मुनिजी की १९७८ की दैनन्दिनी के चिन्तन संकलित हैं। श्री शान्ति मुनिजी आगमज्ञ विद्वान् और तत्त्व चिन्तक होने के साथ-साथ ओजस्वी वक्ता, कुशल लेखक, सफल कथाकार और सरस कवि हैं। साहित्य की सभी विधाओं में आपने सफलता पूर्वक साहित्य सृजन किया है। आपकी कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जो सामान्य पाठकों और विद्वानों के लिये समान रूप से उपादेय रही हैं।

मुनि श्री ने अपनी इस दैनन्दिनी में अपने विचारों को निश्छल एवं सहज अभिव्यक्ति दी है। इसमें मुनि श्री की वाणी या लेखनी नहीं, अनुभूति बोलती हुई परिलक्षित होती है, जो पाठक को सहज ही यह भाव बोध प्रदान करती है कि उसकी स्वयं की चिन्तन धारा अथवा जीवन शैली ही इसमें उकेरी गई है। और इसी आधार पर इसकी जन—सामान्य के लिए अतीव उपयोगिता सिद्ध होती है।

गेन्दालालजी अशोक कुमारजी खाबिया की ओर से हुआ था। अल्प समय में ही द्वितीय संस्करण का प्रकाशन इसकी लोकप्रियता का ही परिचायक है।

यह हर्ष का विषय है कि प्रबुद्ध विचारक, गम्भीर चिन्तक एवं कर्मठ उद्योगपति श्री इन्द्रचन्दजी पुखराजजी बैद ने अपने स्वर्गीय पिता श्री जीवनचन्दजी बैद की स्मृति में इसकी द्वितीयावृति के प्रकाशन हेतु आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, अतः श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ उनका आभारी है।

अन्त में प्रस्तुत कृति अधिक से अधिक प्रबुद्ध जन चेतना को साधना का सम्बल प्रदान करे यही अभिप्सा है।

संयोजक
अ. भा. साधुमार्गी जैन साहित्य समिति

### अर्थ सहयोगी

## स्वर्गीय श्री जीवनचन्द जी बैद-एक परिचय

श्री जीवनचंदजी वैद–राजनांदगांव मध्यप्रदेश के ऐसे गरिमाशाली व्यक्तित्व का नाम है, जिसने तमाम ऐश्वर्य और सुखोपभोग के साधनों के बीच रहकर भी सादगी, सरलता और सौहार्द्रता की मिसाल कायम की है।

मूलत: धार्मिक संस्कारों के धनी जीवनचंदजी ने जीवन को तो प्राय: धर्मोत्सव की तरह जिया। फलत: धार्मिक अर्थों में उनकी मृत्यु भी महोत्सव बन गई। उनकी अंतिम सांसों में भी नवकार मंत्र का स्वर समाया हुआ था। अंत तक वे नवकार जपते रहे और अरिहंतों की शरण, सिद्धों की शरण, आचार्यों, उपाध्यायों और साधु भगवंतों की शरण स्वीकार करते हुए समाधि निधन को उन्होंने प्राप्त किया।

राजस्थान के लोहावट में जन्में श्री जीवनचंदजी सभी आत्मजनों के 'भाईजी' थे। स्नेह के आगार तो वे थे ही, इसलिये स्वभावत: उनमें भ्रातृत्व भाव हर छोटे-बड़े व्यक्ति के लिये निहित था, फिर क्यों न वे 'भाईजी' कहलाते-?- भाईजी एक सफल व्यवसायी तो थे ही, साथ ही वे हर आगंतुक अतिथि का घर-बाहर सभी जगह अत्यंत स्नेहिक सम्मान किया करते थे। यही कारण है कि आज भी हर आगंतुक अतिथि भाईजी के उसी संस्कृत प्राणमय व्यक्तित्व को याद करता ही है। उनकी उदार चेत्ता वृत्ति की प्रशंसा तो उनके प्रत्येक परिचित के मुँह पर बसी हुई है।

सुप्रसिद्ध जैनाचार्य प्रात: स्मरणीय १००८ श्री नानालालजी म. सा. के परम् श्रद्धालु स्वर्गीय जीवनचंद जी वैद अपने पीछे चार संस्कारी सुपुत्रों का भरा पूरा परिवार छोड़ गए हैं।

भाईजी हमेशा हर किसी को याद आते रहेंगे।

– प्रकाशक

# प्रस्तुति

एक स्वप्न-बड़ा अद्भुत, बड़ा रमणीय, आनन्द से भरा हुआ। मैंने देखा-मेरे चारों ओर आनन्द—अमृत वरस रहा है। एक मन्द-मन्द अलौकिक महक से भरी फुहारें मेरी चेतना को आप्यायित कर रही है। एक अमाप आनन्द का सागर मेरे चारों ओर हिलौरें ले रहा है और मैं उसमें निमग्न हो गया हूं।

पर ज्यों ही जागता हूं, एक विचित्र उलझन से ग्रस्त पाता हूं अपने आपको। वाणी बेताब हो जाती है उस आनन्द को प्रकटित करने को! किन्तु कैसे अभिव्यक्ति दूं, उस अद्भुत एवं रमणीय स्वप्न को! कैसे समझाऊं किसी को कि इतने अमाप आनन्द का अनुभव किया है मैंने! क्या अनुभूत स्वप्निल आनन्द को अभिव्यक्ति दी जा सकती है? आनन्द, आनन्द है, उसकी अनुभूति हो सकती है, अभिव्यक्ति नहीं। और मैं उस स्वप्न को अभिव्यक्ति देने अथवा व्याख्यायित करने का प्रयास करता हूं, तो लगता है- मैं उसके साथ बड़ा अन्याय कर रहा हूं। बिना छिले, बिना कांटे-छांटे, बिना बौना बनाये उस अमाप्य को अभिव्यक्ति के सांचे में कसा कैसे जा सकता है! और फिर छांटना पड़ेगा अमाप्यता को ही। असीम को छील-छांटकर ससीम बनाना पड़ेगा। फिर ससीम को असीम का उद्धरण कैसे कहा जा सकता है! अञ्जलि भर जल से समुद्र को कैसे समझा जा सकता है!

तीव्र बुभुक्षा के क्षणों में मुझे मधुरान्न: का आस्वाद मिला। कैसे किसी को समझाऊं कि मुझे ऐसा आस्वाद आया! उस आस्वाद से अनभिज्ञ के प्रति कैसे उस आस्वादजन्य आनन्द को अभिव्यक्ति दूं? एक अन्तर्वेदना की टीस अन्तर को उद्वेलित करती है। कैसे उसे अभिव्यक्ति दूं! सोचता हूं किसी प्रतीक के साथ अनुबद्ध कर दूं उसे! किन्तु क्या प्रतिकात्मकता से तथ्य का उद्घाटन हो सकता है, और वह भी आनन्द के परिप्रेक्ष्य में? आनन्द को शाब्दिक परिवेश में अनुबद्ध

कर अभिव्यञ्जित करना एक असम्भव संघटना है।

आनन्द ही नहीं, प्रत्येक अनुभूति के सन्दर्भ में यही तथ्य स्पर्शी सिद्धांत संघटित होता है। अनुभूति–अनुभूति है, चाहे वह सुखद हो अथवा दुखद, उसे अभिव्यक्ति देना शब्द सामर्थ्य से परे है।

वह तो 'गूंगे का गुड़ है' उसे आस्वादित किया जा सकता है। गुड़, गूंगे का ही नहीं, वाचाल का भी क्यों न हो, उसके माधुर्य को जड़ शब्दों द्वारा अभिव्यञ्जित नहीं किया जा सकता। फिर आस्वादन की क्षमता भी भिन्न-भिन्न है। आस्वादन की विधि में भेद है, कोण में भेद है। हमारी रचना टकसाली नहीं है। हम एक ही सांचे में नहीं ढाले गये हैं। अस्तु, अनुभूति को जीया जा सकता है, जाना नहीं जा सकता। कदाचित जाना भी जा सके, तो उसे अभिव्यञ्जित तो कथमपि नहीं किया जा सकता है। अनुभूति का जानना भी अनुभूति की आँख तथा अनुभूति के आलोक से ही हो सकता है।

जीवन में संख्यातीत क्षण ऐसे आते हैं, जिनमें हम अगणित अनुभूतियों के आलोक से गुजरते हैं, किन्तु कुछ ही अनुभूतियां होती हैं, जो सजीव होती है एवं उन्हें हम सचेतन मन से जी पाते हैं तथा वे हमारे जीवन-तंत्र पर कुछ अमिट प्रभाव अंकित कर पाती हैं।

किन्तु उन क्षणों को, जिन्हें हमने अनुभूति के आलोक में जीया है, तथ्यरूप से परिभाषित,व्याख्यायित अथवा आलेखित कर पाना असम्भव है। विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से उन क्षणों को व्याख्यायित करने का हमारा प्रयास कपड़े नापने के मीटर से ज्वर नापने अथवा वायु संयंत्र से जल की नाप लेने जैसा ही होगा।

अनुभूति को व्याख्यायित करने का अर्थ है, उसकी असत् व्याख्या करना।

ये डायरी के पृष्ठ हैं, किसी काव्य का भावानुवाद, काव्य रचना अथवा प्रबन्ध-संकलन नहीं। यहां कुछ एकान्त के हस्ताक्षर हैं तो कुछ वैयक्तिक एवं सामष्टिक चेतना के स्पन्दन। अपनी यात्रा के दौरान उपलब्ध एकान्त के क्षणों को इसमें उकेरा गया है, तो विभिन्न व्यक्तियों के

सान्निध्य से फलित अनुभूतियों के अक्स भी यहां रचित हुऐ हैं। ये हस्ताक्षर मेरे अपने निजत्व से अनुबन्धित होते हुए भी समग्रजन चेतना से असंपृक्त नहीं हैं। आप भी झांकें, कहीं आपको अपना प्रतिबिम्ब ही दिखाई न पड़े !!!

अतः यह कहा जा सकता है कि इन पृष्ठों में असत् व्याख्याओं का संकलन ही प्रस्तुत है। व्याख्या और विवेचन की अंजलि में भरकर उद्घृत करते ही सत्य अपनी सहजता का परित्याग कर देता है। अभिव्यक्ति की हथेली से अनुभूतियाँ फिसल जाती हैं। ज्वार के उतर जाने पर सागर का तट ज्वार का संवाहक तो नहीं रह जाता, किन्तु उसके द्वारा स्थापित आर्द्रता तथा अवशिष्टियों का हस्ताक्षर कुछ काल तक बना रहता है। ठीक उसी भाँति अनुभूति–प्लावित क्षणों द्वारा ढ़ोई गई आर्द्रता स्मृति एवं संवेदना के रूप में जिये हुए क्षणों की एक श्रृंखला को प्रभावित कर जाती है। कई क्षण तो समग्र वैयक्तिकता को ही स्पन्दित कर जाते हैं। ऐसे ही कतिपय क्षणों की यह आत्म कथा है।

स्व और पर के बीच खड़ी पाषाणी दीवार की कथा कहने के लिये तो अनवरत संघर्षों और टकरावों से भरी दुनिया ही बहुत है। मानवीय संवेदना के प्रवाह के लिये उस दीवार में द्वार भी हैं, और रन्ध्र भी हैं। साहित्य का शिव उन द्वारों का ही देवता है। स्व और पर के बीच तादात्म्य–निर्वाह में दैनन्दिनी कहाँ तक सार्थक हुई है, भविष्य बतायेगा। अस्तु।

**– शान्ति मुनि**

# प्रस्तावना

साहित्य के सृजन और प्रकाशन का पहला प्रयोजन है जगत को प्रेरणा देना। जगत को प्ररणा से कोई परहेज नहीं है। हां, प्रेरणा होनी ऐसी चाहिये, जो जगत को कुछ और सुन्दर बनाए। बने सुन्दर, लेकिन रहे जगत ही। ऐसा न हो कि वह जगत से भिन्न कुछ और ही बनने लगे। जगत भलाई की प्रेरणा ले लेगा, बुराई की प्रेरणा को भी हाथ पीछे करके स्वीकार कर लेगा, लेकिन ऐसी प्रेरणा से भागेगा, जो उसे जगत से भिन्न बनायेगी अर्थात् उसके मूल ढांचे को ही बदलना चाहेगी।

उधर सामान्य चिन्तन के गले से एक तावीजनुमा बोधिपट्ट लटक रहा है—आज से नहीं, पूर्व पुराण काल से ही। उस पर लिखा हुआ है कि जागतिकता और सन्यास परस्पर विरोधी हैं। जो तावीज पर लिखा है, वह छाती पर लिखा हुआ ही माना जाता है। जो तावीज बोलती है, उसे हृदय का बोला हुआ ही माना जाता है। और तावीज बोलती है कि जागतिकता और सन्यास पूर्ण प्रतिगामी हैं—दोनों के बीच समझौता या मेल नहीं हो सकता। एक दूसरे के पूरक तो वे हो ही नहीं सकते। जागतिकता का स्पर्श सन्यास के लिए वर्जित है। लेकिन जगत भी सन्यास की प्रेरणा के प्रति चौकन्ना ही रहता है। किसी परिवार का एक युवक यदि चोर निकले, तो दण्ड तथा सुधार की थोड़ी-सी चिन्ता की जाती है। लेकिन उस युवक के सन्यासी बनने के समाचार से परिवार की परेशानी बहुत बढ़ जाती है। चोर से जगत के टूटने की आशंका नहीं रहती। सन्यास द्वारा उसके बिखर जाने का खतरा रहता है। प्रतिकूल से भागना जगत का स्वभाव हो गया है। लम्बे समय तक ढोये गये बोझ अथवा दोष से भी स्वभाव जुड़ जाता है। समय विकारशीलता को विचारशीलता करार देने की स्थिति पैदा कर देता है। जगत यह स्वीकार करके चलता है कि विराग, राग के

प्रति शत्रुता का ही दूसरा नाम है। विरागी की प्रेरणा से रागात्मक जगत के टूटने का डर है। अतः सामान्य चिन्तन द्वारा यह प्रश्न उठाया जाना स्वाभाविक ही है कि सांसारिकता की धूल झाड़कर अलग खड़े एक तपारुढ़, सन्यस्तमना, विरागी साधक के पास जगत को प्रेरणा देने की कौन सी हैसियत शेष रह जाती है।

किन्तु सृष्टि की जीवनगत सचाई का इस सामान्य धारणा से कहीं मेल नहीं बैठता। एक समग्र वृक्ष की दो विकास धाराएं है। इसकी विकास दिशाएं परस्पर विपरीत हैं और उसकी जड़ें पाताल की ओर बढ़ती हैं, शाखाएं आकाश की ओर फैलती हैं। पाताल की ओर बढ़ना रुक जाय तो आकाश की ओर फैलना भी रुक जायगा। पहला कदम पाताल की ओर सुस्थिर हो जाय, तभी दूसरा-आकाश की ओर उठता है। शाखाओं को मुक्त आकाश में बढ़ाने के लिए ही जड़ों को पाताल के अवरोध और अन्धकार से जूझना पड़ता है। मानव-जीवन में भी संकल्प और प्रवृत्ति का विभाजन इसी प्रकार का है। आध्यात्मिक विकास जड़ या मूल है, जागतिक विकास शाखात्मक विस्तार है। संकल्पमूलक अध्यात्म अन्धकार और चट्टानों को परास्त करता है, तभी प्रवृत्ति का आलोक में प्रसरण सम्भव होता है।

स्वामी रामतीर्थ जापान गये थे। वहां एक बगीचे में टहलते समय उनकी दृष्टि केवल तीन-चार फुट ऊंचाई वाले खजुर के पौधों पर गई, जो फलों से लदे हुए थे। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने बागवान से पौधों की उम्र के विषय में पूछा। उन्हें और भी आश्चर्य हुआ, जब बागवान ने बताया कि वे पौधे नहीं वृक्ष हैं, और उनकी उम्र बीस-बीस साल की है।

स्वामी रामतीर्थ का विस्मय और बढ़ा 'फिर ये इतने छोटे क्यों हैं? क्या आप इन्हें ऊपर से काटते जाते हैं?'

बागवान ने कहा- 'हम इन्हें ऊपर से नहीं काटते, स्वामी जी! नीचे से इनकी जड़ों को काटते जाते हैं। वृक्ष अपनी जड़ों के बूते पर ही

ऊपर की ओर बढ़ते हैं। इनकी जड़ें धरती को जितनी अधिक मजबूती से पकड़ती हैं, शाखाओं और टहनियों का विकास उसी अनुपात में होता है। विकास का बोझ जड़ें ही वहन करती है।

जीवन की सहज चेतन्यता और स्वयंभू विकास-चेतना के प्रकाश ने स्वामी रामतीर्थ को प्रफुल्लित कर दिया। जीवन की प्रत्येक इकाई में समग्र चेतना स्वत: प्रकाशित है। दिव्य सचेतना (Cosmic Conscientiousness) जीवन को भीतर और बाहर से सहज रूप में प्राप्त है। महत्व चिंतन का नहीं, चेतना का है। जड़ें कटने पर खजूर का वृक्ष तर्क और चिन्तन के द्वारा बौनेपन का निर्णय नहीं लेता।

अपनी दुहरी सचेतनता के कारण ही मानव सर्वाधिक सचेतन प्राणी है। अन्य प्राणियों की तुलना में उसे चेतना की एक अतिरिक्त कड़ी प्राप्त है- वह कड़ी है उसकी सजगता। वह अपने भौतिक विकास और उस पर स्वामित्व के प्रति सजग है। इसके साथ ही वह आध्यात्मिक रूप से भी सजग है। वह जीवन के उत्स, उसकी परणति और उसके पीछे कार्य करते दिव्य- संकल्प के प्रति भी सजग है। जागतिक विकास की दिशा में प्रवृत्ति के समानान्तर ही उसकी सजगता की धारा अविराम प्रवाहित है, तो दिव्य, संकल्प के साक्षात्कार के प्रति भी वह उतना ही सजग है। जब कभी जागतिक विकास तीव्र होता है, वह लड़खड़ाने लगता है। आवश्यक होता है कि आध्यात्मिक विकास द्वारा उसे सन्तुलित किया जाय। प्रवृत्ति और परिस्थिति की सीमाओं को वह जानता है। इसी दिव्य प्रेरणावश कुछ लोग संकल्प प्रधान जीवनचर्या धारण करते हैं। वे ही आत्मान्वेषी, आत्मशोधी, तपस्वी, साधक और सन्यासी कहे जाते हैं।

अध्यात्म ही जीवन का धारक मूल्य है। अत: एक साधक, एक तपस्वी, अध्यात्म के प्रति समर्पित एक सन्यासी सांसारिकता का धारक और जीवन की समग्रता का अग्रदूत है। वह जड़ों की दिशा में गतिशील क्रांतिशोधी है। संसार से प्रतिकूल दीखता हुआ भी वह उसके मंगल का प्रतीक और उसकी सत्ता का अन्वेषी है। सन्यासी को जागतिकता

का बागी अथवा विद्रोही मानना ना समझी है।

आज फिर ज्ञान-विज्ञान और तकनीक के क्षेत्रों में मानव द्वारा उद्घाटित आयामों ने प्रवृति मूलक विकास को अतीव जटिल बना दिया है। जगत शाखात्मक विकास की पीड़ा से आक्रांत है। भौतिक गरिमा का मीनार अपने ही भार से झुकता जा रहा है। विकास के शिखर अपनी नींव के प्रति सचेत हो उठे हैं। नैतिक मूल्य और सद्भाव चिटकने लगे हैं। ईंट से ईंट को जोड़ने वाली पर्तें खरभराने लगी है। उद्वेगपूर्ण चिन्तन अब विकास को संभालने में स्वयं को असमर्थ पा रहा है। चिन्तक का आग्रह है कि विकास में कटौती की जाय। शांतिवादी का नारा है—वामन बना जाय। किन्तु कटौती कहीं नजर नहीं आ रही है। सारा ध्यान जड़ों की ओर ही है। विज्ञान की दिशा में भी सूक्ष्म, फिर सूक्ष्मतम का उद्घाटन हो रहा है। तलाश सूक्ष्मतम की है। सूक्ष्मतम से साक्षात्कार की व्याकुलता ने चेतना के तार-तार को झंकृत कर दिया है। प्रत्यक्ष और परोक्ष में नियामक संकल्प की ही तलाश जारी है। इसी कारण योगीयों, साधकों, तपस्वियों और आत्मशोधकों की झोलियाँ टटोलने का तीव्र अभियान चल रहा है।

इस सत्य को कि अध्यात्म ही जगत का धारक है, भारत ने अति प्राचीन काल में ही प्रत्यक्ष कर लिया था। इसलिए सन्यासी संसार के लिए पूज्य माना गया था। वही जगत का अनुशास्ता और प्रेरणा का ज्वलन्त प्रतीक है। इस देन ने जितना सम्मान सन्यासी को दिया है, उतना अन्य किसी को नहीं। तारों और नक्षत्रों के शाश्वत स्मारक मंत्र दृष्टा ऋषियों के लिए ही सुरक्षित किये गये। प्रेरणा के स्रोतों की पावनता की रक्षा का अन्य कोई उपाय नहीं था। जागतिक हलचल मचाने वालों को ये अमर स्मारक प्रदान नहीं किए गये। ये अमर स्मारक ऋषियों के सन्देश देते हैं। किसी भाष्यकार, शास्त्रज्ञ, सम्राट, राजनेता अथवा विजेता को ये स्थान नहीं दिए गये। जगत के लिए प्रेरक उन्हें ही रहना चाहिए था, जिन्होंने दिव्य सत्ता का उद्घाटन एवं साक्षात्कार किया था। वे ही जगत के अवलम्ब हैं, उन्हीं की प्रेरणा विकार शून्य हैं, वे ही चरम पुरुषार्थ के प्रतीक हैं।

इस संदर्भ में एक तपोनिष्ठ आत्मशोधी की दैनन्दिनी के ये पृष्ठ साधकों के लिये तथा जगत के लिये अतीव उपयोगी होंगे ।

मुझे इस दैनन्दिनी के लेखक मुनिप्रवर श्री शांतिलालजी को निकट से देखने और सान्निध्य प्राप्त करने का सुयोग प्राप्त हो चुका है। तपस्या उनकी वृत्ति है, सहिष्णुता उनका स्व-भाव है, निश्छल विनयशीलता व सजगता उनका आभूषण है और अडिग संकल्पशीलता उनका व्यक्तित्व है। साधना के प्रत्येक चरण पर वे निष्ठावान हैं, तपस्या के प्रत्येक मोर्चे पर वे सजग और सावधान हैं। तन को शोधते हुए, मन को तपाते हुए, आत्म-साक्षात्कार की ज्योति प्रज्जवलित कर लेने का उनका उद्दाम संकल्प अतीव प्रेरक है। वे एक आस्थापुष्ट जैन सन्त तथा विवेकवान आत्मान्वेषी हैं। चरम सत्य के साक्षात्कार एवम् उद्घाटन के लिये उन्होंने जीवन को खपा डालने का जीवट पूर्ण संकल्प धारण किया है। संकल्प और कुर्बानी के अनुरूप ही उपलब्धि के लिए वे निरन्तर सावचेत हैं। त्याग और तप में वे रंचमात्र भी कटौती नहीं करते, साधनामय जीवन के किसी भी अंश में शिथिलता की शिकन नहीं पड़ने देते, किन्तु चरम सत्य के साक्षात्कार से इतर वाले किसी भी सौदे से वे रीझने अथवा समझौता करने वाले नहीं हैं। यही उनका सौन्दर्य है। एक साधक की डायरी उसकी साधना और उसके अन्तःकरण का अक्स होनी चाहिये, उसकी निर्वैयक्तिकता का वाणी-चित्र होनी चाहिए। इस दैनन्दिनी की भी यही अर्थवत्ता है। इन बिन्दुओं को समक्ष रखकर उन्होंने आत्मावलोकन किया है। अतः यह किसी व्यक्ति अथवा एक साधक की नहीं, वरन् मानवीय साधना और उसकी अडोल आस्था की डायरी है।

यौवन के विस्फोट के पूर्व ही उन्होंने प्रव्रज्या धारण कर ली और अडिग चुनौती के साथ आत्मशोध के मुख्य द्वार पर आज हैं। जीवन की समग्र शक्तियों और प्रवृत्तियों को आध्यात्मिक साधना की समिधा बनाकर वे केवल आत्मोद्वार की लिप्सा से नहीं, वरन् सम्पूर्ण मानव-जाति के लिए कार्य कर रहे हैं। वे महत्ती आस्था, बेजोड़ कुर्बानी और उद्दाम संकल्प के मूर्तरूप हैं।

स्थायी प्रभाव अंकित नहीं कर पाते हैं ।

❦ प्राणी मात्र अन्धकार में जीते हुए भी प्रकाश की बातें इसलिए करते हैं कि वे भूल जायें कि अन्धकार में जी रहे हैं ।

मानवीय सभ्यता के इतिहास में जीवन के सत्य का उद्घाटन अनेक बार हो चुका है । हमें राम और कृष्ण मिले, बुद्ध और महावीर मिले, ईसा और मोहम्मद मिले । फिर मन को स्वरूप से जोड़ने वाली वाणियों के ग्रन्थ बने, कदमों को सही मंजिल से जोड़ने वाले पन्थ बने । पुल बने और आलोक स्तम्भ भी स्थापित कर दिए गये। जीवन को बार-बार आश्वासन मिला-अब मानव अपने पुरुषार्थ का सही मूल्य प्राप्त कर लेगा, अब वह अपने गन्तव्य से नहीं भटकेगा, अब परमात्मा से इतर की उपासना नहीं होगी । किन्तु विडम्बना, कि सत्य बार-बार तिरोहित होता रहा, अज्ञान ने ज्ञान को पुनः पुनः ढक दिया ।

जगत प्रवृत्ति पर चलता है, साधक प्रवृत्ति पर काबू पाता है । प्रवृत्ति का पथ सरल रेखीय है । साधक का इष्ट जीवन के केन्द्र तक पहुँचना होता है । अतः साधक-जीवन का प्रथम चरण है कि प्रवृत्ति पर धीरे-धीरे अंकुश लगाया जाय, सरल रेखीय गति से वृत्तात्मक गति पर उतरा जाय, और वृत्तात्मक गति को मोड़कर केन्द्राभिमुख बनाया जाय, यही साधना का अभ्यास- पक्ष है । सरल रेखीय प्रवाह रुके, वृत्तीय गति की आवृत्ति पुनरावृत्ति द्वारा उसे स्वभाव की सहगामिनी बना लिया जाय । किन्तु साधना का प्राण और प्रयोजन तो केन्द्राभिमुखता है । मन का झुकाव अहर्निश जीवन के केंद्र की ओर होना चाहिए । इसके अभाव में वृत्तात्मक गति निरर्थक कर्मजाल है । केन्द्राभिमुखता खोई, तो साधना निष्फला हुई । कोल्हू के बैल की वृत्तात्मक गति जटिल कर्मजाल ही है । फिर वृत्तात्मक गति का अहंकार तथा आत्म श्रेष्ठता के मोह तो अकाट्य बन्धन हैं । ऐसे पथ-भ्रान्त लोग ही किसी कबीर के निशाने बनते हैं- मन ना रंगाये, रगाये जोगी कपरा । किन्तु प्रायः वृत्तात्मक गति ही मानव का भाग्य-लेख रही । इसी की अहंता पर प्रायः पंथ और सम्प्रदाय उभरते रहे,परम्पराएँ चेतना को चबाने का अवसर पाती रहीं।

मुनिप्रवर श्री शांतिलालजी इस दिशा में सजग एवं सावचेत साधक हैं। निरपेक्ष की ओर गति और सापेक्ष से हटाव के प्रति वे सदैव सतर्क-सचेष्ट रहते हैं। वृत्तात्मक गति से केन्द्राभिमुखता न छूटने पाये, इसके प्रति वे सतत् सावधान हैं–

⚜ भक्तों की भीड़ में रहते-रहते साधक भी अब भीड़ में जीने के अभ्यासी बन गये हैं। अभ्यास के अनुसार उन्हें अब भीड़ अच्छी लगती है।

⚜ बहुत बार विपरीत दिशा में गतिमान साधक साधना के उद्देश्य को तथ्यात्मक रूप से समझे बिना ही साधना-पथ पर पद चरण कर देता है और लीक का अनुकर्त्ता मात्र बनकर रह जाता है।

⚜ आज के इस आधुनिक परिप्रेक्ष्य में साधना का मार्ग, जिसे अत्यन्त सुगम होना चाहिये, जटिल बनता जा रहा है। भौतिक वातावरण से प्रभावित हो,साधक किंकर्त्तव्य विमूढ़ सा बन रहा है। साहजिक यौगिक क्रियाओं का स्वरूप नहीं समझ पा रहा है। जो कि साधना का मूल अंग है। परिणाम स्वरूप वह अपने उद्देश्य से भी विचलित हो जाता है।

जिसने ईश्वर के लिए ऐश्वर्य को ठोकर मारी, जिसने यौवन के समर्पण का संकल्प किया, वह भला सर्वोच्च से इतर को कैसे स्वीकारेगा। इतनी बेजोड़ कुर्बानी का लक्ष्य आत्मिक-साक्षात्कार ही हो सकता है। अतः निरूद्देश्य दिनचर्याओं के प्रति साधक का मन बार-बार क्षुब्ध और विद्रोही बन जाता है। उसे चिढ़ भी होती है, हँसी भी आती है। वे पंथ, परम्पराएं और सम्प्रदाय भी, जिन्होंने जीवन के दिव्य संकल्प से कोई सरोकार नहीं रखा है, अपने अमंगल अस्तित्व के लिए कितनी उपासना-उदरस्थ करते जाते हैं। प्राचीन भारतीयों ने हजारों-लाखों इन्सानों को उदरस्थ करने वाले जिन महाकाय राक्षसों का उल्लेख किया है, उनकी प्रेरणा के उत्स क्या यही सम्प्रदाय आदि नहीं थे। ऐसे क्षणों में साधक की दैनन्दिनी तड़फड़ाते संकल्प की आत्मकथा बन जाती है। जीवन को जगत के जटिल साँचे से यदि मुक्त किया और फिर

उसे अन्य किसी निरुद्देश्य साँचे में कस दिया, तो उपलब्धि क्या रही ? केवल जीवनचर्या के परिवर्तन का कोई व्यापक अर्थ नहीं हो जाता। जगमगाना जीवन को है, जीवनचर्या को नहीं। अतः परिवर्तन जीवन की समग्रता में आना चाहिये।

⚜ अन्तर की आवाज के आधार पर चलने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि व्यक्ति बिना समझे किसी लीक का ही अनुसरण न करे।

⚜ हमारे बहुत कुछ क्रिया-कलाप इसलिए होते हैं कि वे दूसरों से श्रेष्ठ कहलाना चाहते हैं। खान-पान और रहन-सहन ही नहीं तथा-कथित धार्मिक क्रियाएं भी वे इसलिए ठीक से करना चाहते हैं कि लोग उन्हें उत्कृष्ट और दूसरों को निकृष्ट समझें। आसक्ति की जड़ें बड़ी गहराई तक जाती हैं। वह चिपक जाती हैं, छुड़ाये नहीं छूटती। उसे गलत करार देना और उठा फेंकना चुनौती का कार्य है। फेंक देने के लिए ही हम उसे काटना-कुतरना प्रारम्भ करते हैं। फिर काटते-कुतरते ही, उसे खुरेदना शुरु कर देते हैं। आसक्ति सरस है, अतः हम उसमें रस लेना प्रारम्भ कर देते हैं। वह आकर्षक और लुभावनी बनकर हमारी कृति के रूप में उभर आती है। फिर सृजनात्मक आनन्द बाँहे पकड़कर हमें बिठा लेता है। आसक्ति को आस्था से प्रबल स्वीकार किया गया है। उससे जूझना जोखिम का काम है। उसे पछाड़ने की कूवत केवल सुदृढ़ अविचल वैराग्य में ही होती है।

इतना ही क्यों ! बन्धन और माया के रूप-रूपान्तर भी तो विविधतापूर्ण हैं। परिवार और संसार की पकड़ से छटककर अलग खड़ा पुजारी मूर्ति के मोह में ही फंस जाता है, तीर्थ के जल से ही बंध जाता है। नियम और व्रत पर आरूढ़ मोह तो गुरूतम बन्धनों में गिना गया है। नियम और व्रत की जकड़ने साधक को नीचे गिरने से रोकती है, किन्तु रस्सियों और ग्रंथियों की सुरक्षा का ध्यान उसे ऊपर भी नहीं सरकने देता। मोह और अहंता की पाचन-क्षमता को अमोघ माना गया है। वे व्रत और नियम को भी आत्मसात् कर लेते हैं। फिर तो

साधक का युद्ध दुहरा हो जाता है- प्रवंचना से लड़ना और शत्रु को परास्त करना। यदि जीवन की मांग नहीं बदले, यदि अहंता के स्वास्थ्य का ध्यान यथावत् रह जाय, यदि मन की कुलांच वैसी-की वैसी रह जाय, तो साधना बन्ध्या अथवा निष्फला साबित होती है। फिर तो आस्था, निष्ठा और तपस्या भी छलावा ही सिद्ध होती है। मुनिप्रवर श्री शांतिलालजी इस बिन्दु पर यथेष्ट सावचेत हैं।

जागतिकता वृत्तिरुप से पराश्रयी है। उसके तन्तु सहारा ढूंढते हैं। पारस्परिक अवलम्ब पर ही जगत खड़ा है। दृढ़ वैराग्य के तने पर साधक एकाकी भी खड़ा रह सकता है। वह जागतिक के लिए सहारा भी बन सकता है। किन्तु यदि सहारा देने के लिए एक कदम भी आगे आजाय, तो जागतिकता के तन्तु उसे अपनी लपेट में ले लेते हैं। फिर जगत ही दीखता है, साधक ओझल हो जाता है। क्रमशः सब कुछ जगत ही बन जाता है। केवल सावचेतता ही एक आत्मान्वेषक की रक्षा कर सकती है। उसे जगत के सरोवर में कमल-पत्र की भाँति निर्लिप्त रहना पड़ता है। मुनिवर श्री शांतिलालजी इसीलिए अपने संयम की हिमालयी भित्तियों पर बराबर आँख रखे हुए हैं। दीवारों में दरारें नहीं पड़ने देने तथा किसी भी अवकाश-कोटर में मकड़ियों के जाले नहीं उभरने देने की उनकी भावना किसी मंगल प्रभात के आगमन की सूचक हैं।

⚜ प्रशंसा भरी वार्ता, चाहे वह एकदम असत्य ही क्यों न हो, इतनी मधुर लगती है कि इन्सान उसमें घण्टों गुजार देता है, तथा अपनी सामर्थ्य एवं इयत्ता को ही भूल जाता है।

⚜ काम-विकार का एक वैचारिक झटका जब तूफानी दौर स्वीकार करता है, तो चिर संचित साधना एवं तज्जन्य प्रतिष्ठा सब धूमिल हो जाते हैं।

⚜ साधक में इतनी श्रद्धा और भक्ति को झेलने की पात्रता भी है कि नहीं? यदि नहीं, तो क्या यह भी अपने आपके साथ एक छलावा ही

तो नहीं है और साथ ही भावुक श्रद्धालुओं के साथ भी। किन्तु आज प्राय: स्थिति वैसी नहीं है। उन्हें कोई पूज्य न माने तो वे तिलमिला जाते हैं।

प्रतिष्ठा की हविश को त्याग करने के लिए एक विशेष कोटि की प्रज्ञाशीलता और दार्शनिकता की अपेक्षा रहती है। प्रस्तुत दैनन्दिनी का अपना एक मौलिक रूप से अक्षत एवं निश्छल सौन्दर्य है। यह साधक की आंतरिक गतिमयता का पारदर्शी प्रतिबिम्ब है। इसमें साधक की सतत् प्रगतिमान मन: स्थिति से संवेदित क्षण-स्तवकों के अक्स संकलित हैं। उन क्षणों के अक्स, जो उसकी साधनाकालीन संवेदनशीलता और सचेतनता के साक्षी रहे हैं, उस साक्ष्यभाव से स्पन्दित रहे हैं। संकलित चित्रों को हम अनुभूतियों के अक्स नहीं कह सकते। फिर, प्रतिकृति-प्रतिकृति होती है। अनुभूति-संवेदित क्षणों की प्रतिकृतियों से उतनी अर्थवत्ता अपेक्षित नहीं है, जितनी अनुभूतियों से होती हैं।

जीये हुए क्षणों के अक्स अनुभोक्ता के लिये जितने संवेदनशील होते हैं, उतने औरों के लिए नहीं। फिर भी मानव एक अति संवेदन-शील प्राणी है। संवेदनशील इस अर्थ में कि संवेद्यता ही उसकी कल्पना और चिन्तन की प्रेरक शक्ति है। संवेदनशीलता उसके हाथों की शक्ति है, उसके डैनों की ताकत भी है। संवेद्यता के समतल और सामान्यता पर एकान्त का अनेकांत से तादात्म्य हो जाता है। फिर साधक तो कालजयी चिति का शोधकर्त्ता है। उस चिति के क्षितिज पर आवरण समाप्त हो जाते हैं, विविधता तथा भेद विलुप्त हो जाते हैं, इकाईगत विभाजन तिरोहित हो जाते हैं। अत: ये चित्र सभी आत्म-शोधियों के अपने अक्स ही सिद्ध होंगे।

यहां माथापच्ची के मूल्य पर किन्हीं विषयों का स्थापन विवेचन नहीं किया गया है, बिम्बों पर कहीं भी हठवादिता के मोच-खरोच नहीं आये हैं, मताग्रह को अवसर नहीं दिया गया है कि वह बातों को नोचे-नवाये। साधक अपने गन्तव्य के प्रति अनवरत रूप से सजग है। वह सामान्य विपरीतियों तथा अवरोधों को धुनने-मसलने में समय

नहीं गंवाता, वह मतान्तरों के प्रति कुपित अथवा आक्रामक नहीं है। अवरोध और विपरीतियाँ उसकी विवेक-दृष्टि को धोखा नहीं दे पाती, किन्तु वह निर्लिप्त भाव से उनके पार्श्व में पहचान पट्ट लगाता आगे बढ़ता गया है। मुनिप्रवर ने कहीं-कहीं विरामकर औंधे मुंह पड़े मूल्यों को झाड़ा-पोंछा और सीधा किया है, और अवसर पाकर छद्मवेशी विकारों के मुखौटे भी उतार फेंके हैं। दैनन्दिनी के बिम्ब चूंकि अन्तः यात्रा से सम्बन्धित हैं और वे स्वयं गतिशील हैं, अतः यह बिम्ब नितनव स्थितियों के वाचक बन गये हैं। दैनन्दिनी द्वारा साधना-मार्ग की बाधाएं, सावधानियाँ और प्रेरणाएं भी उजागर हो जाती हैं। साधक ने आत्म-विज्ञान के भाष्य को जहाँ समर्थ भाषा दी है, वहीं शब्दों की सामर्थ्य को समुद्र में डाली गई लोहे की कील की भाँति विलुप्त कर देने वाले अभाष्य को भी संकेतिक कर दिया है। यह किसी पटवारी का परिपाटी-निर्वाह नहीं, एक जीवन्त आत्मशोधक का अन्वेषण है।

यह दैनन्दिनी जहाँ आध्यात्म-साधकों के लिये पथ दर्शक का कार्य करेगी, वहीं मानसिक ऊहापोह में आश्रय टटोलते विश्व के लिये आश्वासन भी बनेगी। मुनीश्वर श्री शांतिलालजी तो अपनी निर्विघ्न तेजस्विता के लिये ही वन्दनीय हैं, उनके इस मंगल-विधान के लिये आज का और आने वाले कल का आत्मशोधी जगत आभार विनत रहेगा।

**– प्रो. शिवाशंकर त्रिवेदी**

## : शुद्धि-पत्र :

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| १ | ४ | जिनमें जैसी नैसर्गिक | जिनमें नैसर्गिक |
| १८ | १८ | आत्मलीन से | आत्मलीन वृत्ति से |
| २६ | १२ | महावीर से स्पष्ट | महावीर ने स्पष्ट |
| ३० | ६ | उसे कीड़े का संहार | उस कीड़े का संहार |
| ३३ | १५ | श्रेत्र में | क्षेत्र में |
| ४१ | १९ | चिढ्ढई" | चिट्ठई" |
| ४७ | ६ | अन्याय | अन्यान्य |
| ४७ | २२ | क्षुधा-पूर्ति से लिए | क्षुधा-पूर्ति के लिए |
| ४९ | १२ | विपरित | विपरीत |
| ६२ | ६ | शुद्ध | क्षुद्र |
| ७० | ५ | भौतिकता | मौलिकता |
| ७२ | १२ | अर्थक्ता | अर्थवत्ता |
| ८१ | ४ | वाचलता | वाचालता |
| ८१ | १० | सम्यग् द्वार | सम्यग् ज्ञान के द्वार |
| ८२ | २० | अन्तोगत्वा | अन्ततोगत्वा |
| ८६ | ३ | अनुप्रम | अनुपम |
| ९३ | शीर्षक | जीवन इन्द्र धनुतीरंग | जीवन इन्द्र धनुषीरंग |
| ९३ | १३-१४ | जिस जिस प्रकार | जिस प्रकार |
| ९४ | २४ | और सद्गुणों का | और हमारे सद्गुणों का |
| ९६ | १७ | रटान्त | रटन्त |
| १०० | १६ | त्रिमुत्तये" | विमुक्तये" |
| १०४ | ४ | बाह्यभिमुखी | बाह्याभिमुखी |
| १०४ | १८-१९ | बाह्ययामिमुखता | बाह्याभिमुखता |
| १०६ | १५-१६ | विचारों को | विचारों में |
| १०९ | शीर्षक | दृष्टी | दृष्टि |

| | | | |
|---|---|---|---|
| १०६ | २२ | विपरित | विपरीत |
| ११५ | शीर्षक | भूठी प्रशंसा | झूठी प्रशंसा |
| ११५ | १६ | से अवृत कर | से आवृत कर |
| १२१ | शीर्षक | उथलपन | उथलापन |
| १२१ | १४ | तो नहीं | तो यहीं |
| १२६ | ५ | असावधानियों ने | असावधानियों से |
| १३२ | १८ | विपरित | विपरीत |
| १३३ | १७ | विपरित | विपरीत |
| १६३ | १० | प्रतिक्रियाएं | क्रियाएं |
| १६४ | १४ | वयैक्तिक | वैयक्तिक |
| १६८ | १० | विपरित | विपरीत |
| १७० | १६ | स्वर्ग | स्व |
| १७१ | शीर्षक | भक्ति | भक्तों |
| १७१ | ६ | छः माह | चार माह |
| १७१ | ६-१० | टपकता | टपकती |
| १७१ | ६ | विहलता | विह्वलता |
| १७२ | शीर्षक | चवूडोलर | चकडोलर |
| १७२ | १६ | क्रिया | किया |
| १७५ | १६ | अर्थावान् | अर्थवान् |
| १७५ | १६ | मिक्खुहिं | भिक्खुहिं |
| १८५ | गाँव का नाम | मेड़ी | भेड़ी |
| १६६ | शीर्षक | ब्रह्मचारी | ब्रह्मचारी |

## क्षमा–याचना

मेरी असावधानी के कारण उपरोक्त अशुद्धियां पुस्तक में रह गई है, इसके लिये मैं क्षमाप्रार्थी हूं । कृपया पाठक इस शुद्धि-पत्र के आधार पर पुस्तक को संशोधित कर पढ़ें ।

— दिनेश कण्ठालिया, शशि प्रिन्टर्स

# निसर्ग–संसर्ग

कुछ व्यक्ति जन्मतः किंवा निसर्गतः महान् होते हैं। कुछ व्यक्ति निसर्गतः तुच्छ प्रकृति के होते हैं। किन्तु कुछ व्यक्ति संसर्ग के आधार पर महानता की ओर गतिशील होते हैं अथवा कुसंगति के कारण तुच्छत्व की ओर बढ़ जाते हैं। जिनमें जैसी नैसर्गिक महानता अथवा तुच्छता होती है, उन पर सुसंग अथवा कुसंग के वातावरण का प्रभाव प्रायः अकिंचित् कर ही होता है। वातावरण उनमें परिवर्तन लाने में अक्षम ही होता है। क्योंकि संसर्गजन्य वातावरण का प्रभाव उसी पर होता है, जो स्वयं में कुछ कमजोर होता है। ज्वर से कमजोर बने व्यक्ति को सामान्य–सी शीतलहरी भी प्रभावित कर देती है।

सशक्त व्यक्ति वातावरण को ही अपने अनुकूल ढाल लेता है।

वास्तव में जो निसर्ग से ही अथवा अपने अन्तरंग कारणों से ही महान् है, उसे कोई क्या महान् बनाएगा ? उसे महान् बनाने का प्रयास हास्यास्पद ही सिद्ध होगा।

प्रकृति के सुरम्य रंगों से रंजित स्वयं सुन्दर सुगन्धित पुष्प को कौन सुन्दर बना पाएगा ? उसे सुन्दर बनाने का प्रयास उसके सहज सौन्दर्य को नष्ट करना ही होगा।

ठीक इसी प्रकार तुच्छ व्यक्ति, जो जन्मना तुच्छत्व के भाव संस्कारों से ओत–प्रोत है, उसे बदलने का प्रयास भी उपहासास्पद ही होगा। गुबरैले को कितनी ही सुवासित जगह पर छोड़ा जाए, वह वहां भी गन्दगी की ही खोज करेगा। अतः बदलने का प्रयास सामान्य मध्यम स्वभावी व्यक्ति के प्रति होना चाहिये, जिस पर संसर्ग का प्रभाव अंकित हो सकता है।

**सम्बलपुर**

दि. १ जनवरी, १९७८

# आवेग

वासना का क्षणिक आवेग इन्सान को ऐसी जगह लाकर पटक देता है कि उसे अपनी इस क्षणिक भूल के लिये जीवनपर्यन्त पश्चाताप की ज्वाला में झुलसते रहना पड़ता है। एक बार उठने वाली एक भावतरंग सम्पूर्ण जीवन को आंदोलित कर देती है। तत्काल वह तरंग एक सामान्य-सी भूल ही लगती है, किन्तु जीवन को पतन के गर्त में गिरा देने वाली वह लघुतम भूल जीवनपर्यन्त एक शूल की तरह चुभती रहती है, क्योंकि जीवन ऊर्जा का प्रवाह, जो क्षणिक वासना के प्रभाव में बह जाता है, उसे पुनः उपार्जित नहीं किया जा सकता है। मूलभूत शक्ति का क्षरण हो जाने के पश्चात् पश्चाताप के अतिरिक्त हाथ में कुछ भी नहीं रह जाता है।

वासना के आवेग में शक्ति के अपव्यय के साथ आत्मग्लानि के रूप में एक मनोव्यथा और उत्पन्न हो जाती है, जिसे सुलझा पाना अथवा समाहित कर पाना असम्भव-सा है, और वह व्यथा सम्पूर्ण जीवन का अभिन्न अंग बन जाती है। व्यथा चाहे वह किसी भी प्रकार की हो, भुलाए नहीं भुलती, किन्तु कामोद्रेकजन्य व्यथा तो जीवन को निरन्तर शालती रहती है। उस व्यथा से मुक्ति पाना अत्यन्त कठिन है। जितना व्यथा को भुलाने का प्रयास किया जाता है, वह द्विगुणित वेग से दिमाग पर मण्डराने लगती है। एकान्त के क्षण पाकर तो समस्त चिन्तन उसी पर आकर केन्द्रित हो जाता है। एक लघुतम आवेगजन्य भूल साधना के सुन्दर पथ को पंकिल बना देती है, जिससे पद-पद पर पैर फिसलने लगते हैं।

दैनिक समाचार पत्रों में आगत अनेक घटनाएं ही इस चिन्तन की मूल आधार हैं।

**सम्बलपुर**

दि. २ व ३ जनवरी, १९७८

# युवा शक्ति

युवा शक्ति का दुरुपयोग आज चिन्ताजनक स्तर पर पहुंच गया है। जिस विद्युतवत् प्रचण्ड वेगवती शक्ति द्वारा उपलब्धियों के अनेक आयाम् उद्घाटित किये जा सकते हैं, वही शक्ति आज उपलब्धियों को रौंदने में संलग्न है। विद्युत उर्जा का उपयोग रचनात्मक कार्यों के लिए भी किया जा सकता है और विनाश के लिए भी। वही स्थिति प्रत्येक शक्ति-स्रोत के सन्दर्भ में मानी जाती है। शक्ति अपने आप में शक्ति भर होती है। वह अपनी उपयोगिता एवम् अनुपयोगिता से अनभिज्ञ होती है। उसका उपयोग, उपयोगकर्त्ता पर आधारित होता है। परमाणु उर्जा की वेमाप शक्ति का उपयोग दोनों दिशाओं में सर्व विदित है।

ठीक इसी प्रकार युवा-शक्ति भी उभय दिशाओं में प्रयुक्त हो सकती है। किन्तु खेद है कि आज हमारी वह अधिकांश शक्ति विनाश-लीला की ओर ही गतिशील है। भारतीय युवा-शक्ति को ही लें, इने-गिने सौ-पचास युवक अथवा बौद्धिक प्रतिभा के धनी व्यक्ति मिलेंगे, जो अपनी सम्पूर्ण शक्ति के नियोजन के द्वारा केवल निर्माण अथवा अनु-सन्धान की दिशा में संलग्न होंगे। शेष सभी उस निर्माणमुखी प्रतिभा का उपयोग विध्वंस की दिशा में करते हुए दिखाई देते हैं।

शोधमुखी वैज्ञानिक प्रतिभा के धनी कितने जीवटधारी वैज्ञानिक होंगे,जो नित नूतन अनुसंधान में खोए रहते हैं। शेष तोउन आविष्कारों का उपयोग पिता की कमाई को उड़ाने वाले पुत्रों की तरह ही करते रहते हैं।

**सम्बलपुर**

४ व ५ जनवरी, १९७८

# विस्तार नहीं गहराई

आज हम विस्तार की ओर तीव्र गति से बढ़ते जा रहे हैं। जबकि यह अपने लक्ष्य के ठीक विपरीत दिशा की प्रवृत्ति है। साधना समूचे विस्तार को रोककर स्व में प्रतिष्ठित होने के लिए की जाती है। बाह्य विस्तार में दौड़ना उस पक्षीशावक के तुल्य है, जो जहाज के अपने स्तूप को छोड़कर मध्य समुद्र में उड़ता रहता है और अपने चारों ओर अपार जल-राशि देखकर प्राण गंवा बैठता है।

आज के तथाकथित साधकों की स्थिति भी कुछ इसी प्रकार की बन गई है। अपने आत्म केन्द्र से भटककर केवल विस्तार की ललक में दौड़ने वाला साधक निश्चित ही साधना से भटक जाता है। बाह्य विस्तार में हम जितने उलझे हैं, साधना भी उतनी ही जटिल बनती गई है।

विस्तार की यह दौड़ भी किसी एक दिशा में नहीं हो रही है। कभी पूर्व दिशा में, और कभी पश्चिम दिशा में निरर्थक दौड़ लगाने वाले पागल व्यक्ति की तरह हम भी कभी परिचय विस्तार, कभी कीर्ति विस्तार, कभी सम्पत्ति विस्तार में तीव्रगति से दौड़ लगा रहे हैं। दौड़, चाहे वह किसी भी दिशा में हो, साधना के मार्ग में भटकाव ही पैदा करेगी। साधना का उत्स है साध्य के प्रति स्थिर होना और दौड़ उससे भटकाने वाली ही होती है।

जहाँ दौड़ रूकती है, वहीं साधना फलवती बनती है। गतिशीलता के अवरूद्ध हो जाने और स्व-केन्द्र पर स्थिर हो जाने को ही साधना की चरम उपलब्धि माना गया है। जब तक विविध आयामी एवं अनेक दिग्गामी दौड़ रूक नहीं जाती, हम अपने परम लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

**भानुप्रतापपुर, कोरर, धनेलीकन्हार,**

दि. ६, ७ व ८ जनवरी, १९७८

# अहं प्रदर्शन

कई बार लगता है, आम व्यक्तियों की जीवन की प्रत्येक क्रिया प्रक्रिया अथवा गतिविधि केवल क्षुद्र अहंकार के परिपोषण के लिए ही हो रही है अथवा यों कहें कि अहंकार का पोषण एवं संवर्द्धन ही हर प्रवृत्ति का उद्देश्य हो गया है। सत्ता और सम्पत्ति की दौड़ ही नहीं, अध्ययन - प्रवचन - साधना की विस्तृत चर्चा एवं तथाकथित साधना भी मन के कोने में छिपे हुए अहंकार के पोषण के लिए ही होती है। भले ही हम उस सूक्ष्मतम अहंकार को न समझ पाएं अथवा यह प्रचार करते रहें कि हम मुक्ति के लिए साधना कर रहे हैं। किन्तु अन्तर की आवाज स्पष्ट संकेत कर देती है कि अधिकांशत:तथाकथित साधना तथा तज्जनित क्रियाएं प्राय: क्षुद्र अहं की पूर्ति के लिए ही बनती हैं।

वैसे जीवन के प्रत्येक कोण पर जीवन की दौड़ अहंकार के पोषण के लिए ही होती है। चाहे वह सत्ता-सम्पत्ति साधना आदि के द्वारा भी क्यों न हो! हाँ, वह अहं इतना सूक्ष्म् होता है कि हम उसे सहज रूप से पकड़ अथवा पहचान नहीं पाते हैं। कभी एकान्त के क्षणों में साधना की मनोभूमि पर अवश्य अहसास हो सकता है कि वह क्षुद्र अहंकार जीवन को चारों ओर से कितना घेरे हुए है। एकान्त की हमारी बैठक, मुखमुद्रा शारीरिक एवं मानसिक हरकतें निसर्गत: कुछ और ही होती हैं। किन्तु अन्य की उपस्थिति का अहसास ही उनमें कृत्रिमता और विकृति ला देता है। वहाँ भी वही अहंकार दौड़ पड़ता है कि मेरी बैठक, मुद्रा एवं क्रियाएँ सम्मुखासीन को कैसी लग रही हैं। हमारी छोटी-से-छोटी प्रवृत्ति के पीछे 'अहं' साये की तरह लगा हुआ है, जो वास्तव में जीवन के नैसर्गिक आनन्द को धूमिल कर देता है। अहंकार शून्य व्यक्ति ही नैसर्गिक आनन्द ले सकता है।

**देवरी, कांकेर**

९ व १० जनवरी, १९७८

## अहं और अन्तः स्वर

अपने जीवन के व्यवहारों–आचरणों अथवा क्षुद्र वृत्तियों के विपरीत जब उच्च आदर्शात्मक प्रतीक अपने साथ जोड़े जाते हैं अथवा दूसरे के द्वारा ऐसे विशेषण लगाए जाते हैं, जो जीवन की आंतरिक सच्चाइयों से कोसों दूर होते हैं, तो अन्तर में एक टीस-सी उठती है–"काश" अपने आपको वैसा रख पाता अथवा बना पाता !

जो विशेषण लगाए जा रहे हैं, जिनके कि अनुरूप हमारा जीवन नहीं है, उन्हें स्पष्ट नकारा भी तो नहीं जाता है। क्योंकि वह भी तो अपने अहंकार पर एक चोट है। उल्टे लुके-छिपे उन आवरणों, लौह कवचों को ओढ़कर अपनी क्षुद्रताओं को दबाने का ही प्रयास होता है। चाहे उससे अन्तर आवाज अथवा अन्तर में उठने वाली इस टीस पर चोट या आवरण पड़ता हो।

**कांकेर,**

दि. ११ जनवरी, १९७८

## अन्तरंग स्वर

न जाने अन्तर की कितनी आवाजों को हम झूठे आवरणों से दबाते चले जाते हैं। इससे जीवन के उच्च सोपानों पर ही आवरण पड़ जाते हैं अथवा कांटे बिछ जाते हैं। विकास के सभी आयाम एवं द्वार अवरुद्ध हो जाते हैं। आज तक इतने झूठे आवरणों से चेतना परिवेष्टित हो चुकी है, जिनकी गणना असम्भव है। किन्तु उन सभी आवरणों को एक क्षण में भी हटाया जा सकता है, यदि हम अब भी अन्तर–स्वर को सुनने एवं तद्नुरुप जीवन-सर्जन का प्रयत्न प्रारम्भ कर दें। भीतर में उठने वाली एक-एक आवाज इतनी सक्षम एवं मूल्यवान होती है कि उससे समूचे जीवन क्रम को बदला जा सकता है।

**कांकेर,**

दि. १२ जनवरी, १९७८

## विकास या ह्रास

आज निश्चित रुप से विद्या, बुद्धि एवं तकनीक सम्बन्धि विकास हुआ है, किन्तु इस बौद्धिक विकास के साथ ही हृदय की सुकुमारता, प्रेम, सोहार्द्र, करुणा समाप्त होते चले जा रहे हैं, इस विकास को हम विकास कहें या ह्रास । क्या विकास का यह तथाकथित मानदण्ड सही है ? निश्चित ही मानव बाह्य विकास के अगणित सोपान पार कर चुका है, किन्तु आन्तरिकता की दृष्टि से वह उतनी ही सीढ़ियां नीचे उतर गया है । बौद्धिक दृष्टि से इन्सान ने क्या-क्या नहीं खोज लिया है ? किन्तु इस खोज के सिलसिले में उसका देवत्व तो नदारद हुआ ही है, उसकी जीने की कला, पिता का प्यार, माँ की ममता,भाई का सोहार्द सब कुछ ही खो चुका है । यह तथाकथित विकास आम व्यक्ति को निरन्तर ह्रास की ओर धकेल रहा है ।

**कांकेर,**

१३ जनवरी, ७८

## चंचल चित्त की खोज

चंचल चित्त सदा अपनी कमजोरियों एवं दुष्प्रवृत्तियों के पोषण के वातावरण की खोज में रहता है । उसे वैसा स्थान चाहिए, वैसा एकांत चाहिये, जिसमें वह अपनी दुर्भावनाओं को पुष्ट कर सके । उसकी एक ही टोह रहती है कि मेरी क्षुद्र वृत्तियों की सफलता में कोई व्यवधान न आए । कई अच्छे-अच्छे साधक भी चित्त चांचल्य के क्षणों में इन्हीं क्षुद्र भावनाओं से ग्रस्त हो जाते हैं ? तत्काल बुद्धि के द्वार अवगुण्ठित हो जाते हैं । अथवा बुद्धि का उपयोग भी उसी वातावरण के निर्माण में ही होने लगता है । ध्यान, मौन, अध्ययन, मनन सब कुछ छोड़कर बुद्धि केवल अपनी क्षुद्रता पूर्ति के अनुकूल वातावरण के निर्माण में ही प्रयुक्त होती है, जबकि यह निश्चित है कि लाख प्रयास करने पर भी बुद्धि की चतुराई अन्त में परास्त हो जाती है और इन्सान को अत्यन्त दयनीय स्थिति का सामना करना पड़ता है ।

**कांकेर,**

१४ व १५ जनवरी १९७८

# शब्द–चोट

सामान्य-से शब्दों की चोट हृदय पर कितना गहरा घाव कर देती है। उसे मरहम-पट्टी द्वारा ठीक कर पाना ही अशक्य हो जाता है । यह भी महदाश्चर्य की बात है कि उस अदृश्य भावात्मक हृदय पर इन स्थूल शब्दों का इतना सशक्त,किन्तु अबूझ प्रभाव कैसे पड़ जाता है। इससे यह तथ्य तो स्पष्ट उजागर हो जाता है कि शब्दों में अपनी सामर्थ्य अवश्य है, यदि वे तीव्र संकल्प से प्रवाहित हों । किन्तु देखा तो यह जाता है कि विना ही संकल्प के ना कुछ बातों पर होने वाले तनावों एवं संघर्षों में भी शब्द अचूक बाण- से सिद्ध होते हैं और कलेजे में गहरा घाव कर देते हैं । कई बार तो विनोद में प्रयुक्त शब्द भी विष-बूझे तीर का कार्य कर हृदय में इतने गहराते चले जाते हैं कि पुनः सन्धान असम्भव हो जाता है ।

शब्दों में अपनी सामर्थ्य अवश्य है, किन्तु इस सामर्थ्य के उपयोग की दिशा निर्धारण का कार्य तो मानवी बुद्धि के पास है । शब्दों में चोट करने का अथवा विष-बूझे तीर का सामर्थ्य है तो मरहम पट्टी करने का एवं संजीवनी बूटी का सामर्थ्य भी तो उनमें है । शब्द में ही वह शक्ति है, जिसमें वर्षों से बिछुड़े दिल क्षण भर में दूध पानी की तरह एकमेक हो जाते हैं । इसलिये तो कहा गया है—"एक वचन है औषधि, एक वचन है घाव" ।

तात्पर्य यह है कि शब्द-सामर्थ्य से ऊपर बुद्धि सामर्थ्य है। शब्द का हम चाहे जिस दिशा से उपयोग कर सकते हैं । चाहें तो उन्हीं शब्दों में अमृत की वर्षा कर दें और चाहें तो विष-बीज भी विखेर दें । यह अलग बात है कि आज के परिवेश में शब्दों से विष बीज ही अधिक बिखेरे जा रहे हैं । किन्तु उनमें क्षमता अमृत की भी है ।

**कांकेर, सरोना**

१६ व १७ जनवरी, १९७८

# धार्मिक पहचान !

आज धार्मिकता की पहचान केवल परिवेश-आवरण भर रह गए हैं। जबकि आवरण और धर्म का दूर का भी रिश्ता नहीं है। इसी प्रकार कुछ अनुष्ठान अथवा क्रिया कलापों को ही धर्म मान लेना एक भयंकर भूल है, जिसे आज हम दोहराते जा रहे हैं। वास्तव में धार्मिक व्यक्ति वही नहीं है जो किसी परम्परागत धार्मिक परिवेश से अपने आपको मण्डित कर लेता है अथवा लंगोटी लगाए हुए हैं, जो दिन में एक वक्त भोजन करता है या कई दिनों तक निराहार रह जाता है, अथवा जिसने विधि निषेध की अगणित शपथें ले रक्खी हैं। यह सब धर्म के बाह्य रूप हो सकते हैं। धार्मिकता का अन्तरंग स्वरूप इससे कुछ भिन्न ही है, और वह है निरन्तर आन्तरिक सरलता एवं पवित्रता के प्रति सजगता।

धार्मिकता की पहचान, यदि प्रभु महावीर के शब्दों में चाहें तो वह है–"सो हु उज्जय भूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ" अर्थात् जो व्यक्ति अन्तर में जितना सरल होगा वो उतना ही धार्मिक होगा। जो अत्यन्त ऋजुभूत हो, जो कुछ होने के प्रयत्न में नहीं, सहज होने में ही आनन्द मानता हो, वही धार्मिक है। ऐसे व्यक्ति में ग्राहिता की असाधारण क्षमता होती है। वहाँ कोई अवरोध नहीं, कोई भय या किसी प्रकार की आशंका नहीं है। जो सहज सरल हृदय है वह धार्मिकता का सबसे प्रबल अधिकारी है। जब मन वास्तव में सीधे संवेदन के प्रति सजग होता है, अपनी सम्पूर्ण घटनाओं, क्रियाओं, अनुक्रियाओं, विचारों के प्रति पूर्ण सचेत होकर सीधे मार्ग से उनका अवधान करता है, तभी उसमें ग्रहण-शीलता का विकास होता है और वह सहज ग्रहणशीलता ही धार्मिकता की मनोभूमि है।

**दुधावा, बिरगुड़ी**

१८ व १९ जनवरी, १९७८

# आज का साधक !

कई बार ऐसा लगता है कि आज के आधुनिक युग का साधक जीवन पूर्णतया सामाजिक जीवन बन गया है । जहाँ अब अध्ययन, अध्यापन, प्रवचन एवं सम्भाषण के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं बचा है । दैनिक क्रियाकलापों में कुछ समय अध्ययन-अध्यापन एवं प्रवचन को समर्पित हो जाता है और शेष बचा हुआ आगत भक्तों से सम्भाषण में । साधना जैसा कोई तत्त्व है, ऐसा कभी अहसास भी नहीं होने पाता है । सामाजिक गतिविधियों एवं सामाजिक विकास की योजनाओं में ही पूरा चिन्तन उलझा रहता है । दिन भर ही नहीं रात्रि १०-३० बजे तक भी कुछ भक्तों से ही घिरे रहना एक व्यसन-सा वन गया है । विचारणीय है कि इस प्रकार साधना के आवरण का ढोल पीटा जाता है अथवा मखोल उड़ाया जाता है !

उपासकों की भीड़ तो अपने उपास्यों को इतना घेरे रहती है कि दस मिनिट आराम से खाने का समय भी नसीब नहीं होने देती है । अन्यान्य समयों में तो हम भक्तों से घिरे रहते ही हैं, किन्तु भोजन पर बैठे तो वहाँ भी "महाराज, अमुक दर्शनार्थी आएं हैं, मंगल पाठ सुना दीजिये .........," और मुनिजी को भी भक्तों को प्रसन्न रखने के लिये तुरन्त उठकर आना पड़ता है, खाना अधूरा छोड़कर भी ।

भक्तों की भीड़ में रहते-रहते साधक भी अब भीड़ में जीने के अभ्यासी बन गए हैं । अत: साधना के अनुकूल कदाचित् एकान्त का समय मिल गया तो उन्हें वह खलने लगता है । अभ्यास के अनुसार उन्हें अब भीड़ अच्छी लगती है । आत्म-साधना के लिये मिलने वाले एकान्त के पवित्र एवं महत्वपूर्ण क्षण उन्हें थोथे और निस्सार प्रतीत होते हैं ।

**नगरी, सेमरा**

दि. २०, २१ व २२ जनवरी, १९७८

# शशक वृत्ति

अपनी कमजोरियों को हम कल्पनाओं के कितने ही दुशालों में लपेट कर छिपाने का प्रयास करें, मन पुकार-पुकार कर उन्हें उघाड़ देता है। हम अपने साथ ही सर्वाधिक छलावा करने का प्रयास करते हैं, जो वास्तव में छलावे के प्रति ही छलावा है। हमारी स्थिति तो उस भयाक्रांत शशक सी है, जो अपने ही कानों से अपनी आँखों को ढक कर बैठ जाता है और सोचता है मुझे कोई नहीं देख रहा है। अपने मन की कमजोरियों एवं त्रुटियों के प्रति भी हमारा यही दृष्टिकोण बन गया है। जीवन में हो जाने वाली त्रुटियाँ अपनी दृष्टि को बन्द कर लेने से अथवा उसे कुछ बौद्धिक विचारों के दुशालों से ढक देने मात्र से आवृत नहीं हो जाती है। उन्हें आवृत करने का सबसे सुन्दर उपाय है, उन्हें पूर्णतया उद्घाटित कर दिया जाय।

अपराधों को छिपाने का प्रयास ठीक वैसा ही परिणाम लाता है जैसा किसी जहरीले मवादी फोड़े को सुन्दर कपड़ों से ढक कर रक्खा जाय और हवा का प्रवेश तक वहाँ न होने दिया जाए। अपराध हो जाना सहज एवं सामान्य स्थिति है, किन्तु उस पर आवरण डालने का प्रयास असहज एवं असामान्य हो जाता है, जो अपराध की भयंकरता को बहुत अधिक बढ़ा देता है। मवादी फोड़े पर हम कितने ही आवरण डालें, वह अन्दर ही अन्दर विकृति तो उत्पन्न करेगा ही, साथ ही अपनी दुर्गन्ध से वायु मण्डल को भी दुर्गन्धमय बना देगा और एक विकट संकटमय स्थिति का निर्माण कर देगा। बस यही स्थिति उत्पन्न होती है अपराधों को आवृत करने से। ढके हुए अपराध एक दिन अत्यन्त विस्फोटक स्थिति का निर्माण कर देते हैं। अतः आवश्यक है कि जिस सहजता से अपराध किया गया, उसी सहजता से उसे प्रकट किया जाए।

**नगरी**

दि. २३ व २४ जनवरी, १९७८

# समालोच्य-समालोचक

अपने विरोधी के प्रति अथवा विरोधी ही क्यों, सामान्य समालोचक, जो अपनी क्षुद्र एवं तुच्छ बुद्धि का परिचय आलोचना के द्वारा दे रहा है, के प्रति भी मानस में इतनी क्षुद्र भावनाएँ आ जाती हैं कि हम घृणा से भर जाते हैं। वास्तव में उस स्थिति में हम समालोचक की ही कोटि में आ जाते हैं। यदि हममें सामान्य-सी भी सहिष्णुता की वृत्ति है तो हमारा चिन्तन होगा—आलोचक यदि मिथ्या आलोचना कर रहा है तो वह उसकी क्षुद्र मनोवृत्ति है, उससे हमें असन्तुष्ट हो कर उसे प्रोत्साहन नहीं देना चाहिये? वस्तु स्थिति में समालोच्य की प्रतिक्रिया ही समालोचक की शक्ति को द्विगुणित कर देती है। यदि समालोच्य अपने में लीन है तो समालोचक एक बार अपनी क्षुद्रवृत्ति का परिचय देकर शांत हो जाएगा।

**नगरी,**

२५ जनवरी, १९७८

# मूल्य-वर्तमान का

हम यह मान बैठे हैं कि वर्तमान साधना का उपयोग आगामी जन्म में सुखी, समृद्ध, ज्ञानी, शक्तिशाली एवं दयावान् बनने के लिये है। किन्तु वर्तमान के कार्य की सफलता तो भविष्य में होती है। आज तो कल का एक सोपान मात्र है, अतः उसे अधिक महत्व देने का अथवा उसकी चिन्ता करने का कोई कारण नहीं है। हाँ, मात्र कल का ध्येय हमें सतत् स्पष्ट समक्ष रखना चाहिये और उस ध्येय तक पहुंचने का पुरुषार्थ करना चाहिये। कुल मिला कर "आज" या "वर्तमान" के प्रति हमारी धारणा में तुच्छता या हीनता का भाव है, जो हमें साधना के पवित्र उद्देश्य–वर्तमान के आनन्द–से ही वञ्चित किये जा रहा है। भविष्य की ही परिकल्पनाओं में हम वर्तमान के आनन्द को विस्मृत कर गये हैं।

भगवान महावीर ने कहा-'खणं जाणाहि पंडिए' अपने वर्तमान क्षण के मूल्यांकन को समझो। तुम्हारी निजी सम्पदा तुम्हारा वर्तमान ही है। किन्तु हम महावीर के उपासक इसे विस्मृत कर गए। हमारा सम्पूर्ण अवधान भविष्य पर, केवल भविष्य पर ही केन्द्रित हो गया है। वर्तमान की उपादेयता एवं उपयोगिता को हम वर्तमान से नहीं, भविष्य से संयुक्त मान रहे हैं, जो कि हमारी व्यक्तिगत सम्पदा नहीं है। हमारे पास हमारा वर्तमान का क्षण है। आने वाला क्षण किसका होगा ? कुछ कहना अशक्य अथवा एक प्रकार की धृष्टता होगा। जिस क्षण में हम जी रहे हैं, वह क्षण भी हम अगले क्षण को, जिसका कोई अहसास नहीं, समर्पित कर देते हैं। कितने बड़े अज्ञान में हम जी रहे हैं ? वास्तव में यह हास्यास्पद है।

**नगरी**

दि. २६ व २७ जनवरी, १९७८

## समर्पण-कैसा ?

किसी व्यक्ति के प्रति पूर्ण समर्पित हो जाना क्या सचमुच प्रीति
लक्षण है ? पूर्ण समर्पित की भावना अथवा कृति में नित्य नूतन प्र
की क्षमता रह भी सकती है? इसकी फल श्रुति में क्या प्रीति एवं प्र
शीलता दोनों ही मिट्टी में नहीं मिल जाती है ? वस्तुतः जिसके
हम समर्पित होते हैं, उनके प्रति हमारा एक रूप होने का प्रयास
है और वहाँ हम समझने लगते हैं कि वह हमारी अपनी धरोहर है।
निजी मिल्कियत की भावना है, वहां प्रीति हो ही नहीं सकती ।

वास्तव में समर्पण अथवा एकरूपता किसी अन्य के प्रति
स्वयं के प्रति ही अपेक्षित है । द्वैत भाव के तिरोहण अथवा प्रिय
अप्रियता की तरंगों का पूर्ण शमन ही समर्पण की पूर्णता है ।

**नगरी**

दि. २८ व २९ जनवरी, १९

## महत्वाकांक्षा

महत्वाकांक्षा का अर्थ है—भविष्य के प्रति जीना । जितना ग
महत्वाकांक्षी चित्त होगा, उतना ही अधिक भविष्य में जीने व
होगा । महत्वाकांक्षा, चाहे वह राजनैतिक अथवा सामाजिक प्रति
के लिये हो, चाहे व्यक्तिगत मुक्ति के लिये हो या अपने आध्यात्मि
साध्य के लिये हो—तत्काल करने की बात को कल पर टाल देने
सुविधा कर देती है । अभिकांक्षा अथवा वासना सदा भविष्योन्मुखी
होती है । भविष्य में कुछ विशेष हो जाने की कांक्षा का अर्थ होगा,
मान में जो करना आवश्यक है उसे टालते जाना । वस्तुतः आज
क्षण ही कल की अपेक्षा अधिक अर्थगर्भी होता है । इसी क्षण में सं
काल समाविष्ट होता है । अतः उस क्षण की महत्ता ही सर्वाधिक
पर महत्वाकांक्षी इसे समझ नहीं पाता ।

**नगरी**

३० जनवरी, १९

# साम्प्रदायिक चित्त

अधिकांश व्यक्तियों का चित्त किसी भी व्यक्ति,समाज-सम्प्रदाय अथवा समूह से तादात्म्य-एक रूपता स्थापित करने को सदा उत्सुक रहता है। पर ऐसा क्यों होता है? हम अपने आपको जैन, बौद्ध, हिन्दू अथवा मुस्लिम क्यों समझने लगते हैं? व्यक्ति अपने को किसी सम्प्रदाय विशेष का अनुसर्त्ता क्यों घोषित करते हैं? किसी भी धर्म. पन्थ, राजनैतिक दल अथवा विचार-प्रणाली से अपने को सम्बद्ध कर लेने के अनेक कारण हो सकते हैं। कई एकान्तवादी एक परम्परा से बन्धकर उसे सुरक्षित रखना चाहते हैं अथवा आंतरिक उद्रेक, पूर्वग्रह, अनुकरणशीलता एवं प्रतिष्ठा का व्यामोह भी कभी ऐसा करने के लिये उन्हें बाध्य कर देता है। किन्तु यह तथ्य है कि किसी एकान्तवाद के प्रति तादात्म्य अथवा सम्बद्ध हो जाना नूतन अन्वेषण के द्वार को बन्द कर देना है। नूतन खोज के लिए सभी प्रकार के व्यामोह से ऊपर उठना होगा। जो अनुबद्ध है, वह अन्वेषण नहीं कर सकता। जो थोपे गये विचारों में घुलनशील सिद्ध होता है, वह अपने स्वरूप तथा जीवन के सत्य का उद्‌घाटन नहीं कर सकता। जिस देवता का पिण्ड नमक से ढला है, उससे अपेक्षा नहीं रखनी चाहिये कि समुद्र में डुबकी लगाकर मोती ढूंढ लायेगा। वह तो स्वयं ही घुल जायेगा। जो अपनी मौलिकता की रक्षा नहीं कर सकता, वह पुरूषार्थ का संवाहक नहीं हो सकता।

**नगरी**

दि. ३१ जनवरो, १९७८

# प्रिय-अप्रिय

महावीर का उद्‌बोधन है-'पियं न विज्जई किंचि अप्पियं वि न विज्जई', न प्रीति का भाव उपादेय है और न अप्रीति का। क्योंकि दोनों ही द्वैत किंवा द्वन्द्वात्मकता के सूचक हैं। प्रीति रागात्मकता की परिचायक है, तो अप्रीति द्वेषात्मकता की। साधना की उच्च भूमिका के संस्पर्श हेतु दोनों ही अनुपादेय ठहरती हैं। किन्तु एक उच्चकोटि की प्रीति होती है, जिसे स्वात्म प्रीति कह सकते हैं, जो पदार्थों एवं प्राणियों पर आधारित नहीं, स्वचेतना पर आधारित होती है। इसे उपर्युक्त शास्त्रीय वाक्यांश से भिन्न कोटि की प्रीति माना जाएगा, जहां प्रिद-अप्रिय का भाव नहीं, मात्र स्व से तादात्म्य के प्रति जागरण का भाव ही प्रादुर्भूत होता है। अतः प्रिय-अप्रिय जनित प्रीति नहीं, स्वात्म प्रीति ही उपादेय मानी गई है।

**नगरी**
१ फरवरी, १९७८

# लीक का अनुकरण

आत्म साधना से भिन्न एक बन्धी हुई लीक पर चलते हुए क्या नित नये प्रयोग हो सकेंगे ? किसी से एक रूप अथवा सम्बद्ध हो जाना क्या नये शोध एवं सत्य के दर्शन में बाधक नहीं है ? व्यावहारिक सम्बद्धता के बावजूद भी चेतना को अथवा आन्तरिक विचारों को असम्बद्ध रखने पर ही सत्य का दर्शन सम्भव है। आत्म संशोधन के लिये सजगतापूर्ण नये-नये प्रयोग करने की वृत्ति के अभाव में सत्य का दर्शन असम्भव है। और उसके अभाव में परम् आनन्द, जो जीवन का चरम उद्देश्य है, फलित नहीं होगा। अत: सत्यान्वेषी साधक के लिये यह आवश्यक है कि वह नित्य नये द्वारों को खटखटाता जाये और अन्वेषण की प्रक्रिया को दोहराता जाय। यह तभी सम्भव है, जबकि हम दुर्नीतिग्रस्त किसी व्यक्ति विशेष से ही सम्पूर्ण तादात्म्य स्थापित नहीं कर लें। वैचारिक उन्मुक्तता के साथ असम्बद्ध विहारी बनें। असम्बद्धता का अर्थ यहां अनाग्रही वृत्ति से है। जीवन का लक्ष्य तद्रूपता नहीं है, यह उसकी सार्थकता भी नहीं है, आत्मरूपता ही चरम अर्थ है।

**नगरी,**

२ फरवरी, १९७८

# जीवन कि वा समस्या

जीवन की व्याख्या के प्रति आज की आम धारणा बन गई है कि निरन्तर किसी एकाध समस्या से जूझते रहा जाय। बस कहीं न कहीं किसी न किसी संघर्ष के लिये दौड़ धूप करते रहना ही जीवन की परिभाषा एवं व्याख्या है। एकांत शांत नीरव जीवन भी क्या जीवन है ? समस्या एवं संघर्ष रहित जीवन की हम कल्पना ही नहीं कर पाते। किसी समस्या का हल ढूंढ़ने में हम जितने उलझे रहते हैं, उतने ही अपने आपको सजगचेता समझते हैं। यह वास्तव में जीवन के प्रति प्रगाढ़ तन्द्रा ही है। वस्तु स्थिति तो यह है कि मन जितना समस्या संकुल रहेगा, उतना ही तनाव बढ़ेगा और उसकी संवेदन-क्षमता क्षीण होती जाएगी। क्या ऐसे मन से समस्या सुलझेगी ?

किसी समस्या में मन को सतत् उलझाए रहने की प्रवृत्ति क्यों होती है ? और उस उलझे हुए चिन्ताग्रस्त मन से क्या समस्याओं—चिन्ताओं से उपराम पाया जा सकता है ? नहीं ! इसके विपरीत जब मन शांत एवं स्थिर हो जाता है, तभी समस्या का सही समाधान खोज पाना सम्भव है। किन्तु न जाने क्यों हमें मन के शांत होने का भय बना रहता है। आशंका रहती है कि मन के शांत होने पर न जाने क्या हो जाएगा ! अतः हम मन को प्रश्नाकुल बनाए रखना ही श्रेष्ठ मानते हैं।

किन्तु मन की यह वृत्ति आत्मलीन से कोसों दूर है। ऐसा मन निरन्तर पर-चिन्ता में ही व्यग्र रहता है और अन्ततोगत्वा समस्याओं की संकुल कारा में ही आबद्ध हो जाता है। जीवन का उच्चतम ध्येय उसकी दृष्टि से ओझल हो जाता है। वास्तव में समस्याओं के हल खोजने में नहीं, समस्याओं के संकुल घेरे से ऊपर उठने में ही जीवन की सार्थकता है।

नगरी

दि. ३,४ व ५ फरवरी, १९७८

# प्रतिक्षा जनित आनन्द

दूरी, चाहे वह गुरु–शिष्य में हो अथवा भगवान-भक्त में, आंतरिक प्रीति को प्रगाढ़ बनाती है। सामीप्य की अपेक्षा दूरी में श्रद्धा का उद्-भव बहुत गहरा होता है। किसी वस्तु को प्राप्त करने की तीव्र उत्कण्ठा में जो आनन्द है, वह प्राप्त कर लेने पर नहीं रहता। आपने बुकिङ्ग की है कार अथवा स्कूटर की और बड़ी जिज्ञासाभरी अभीप्सा है उसे पाने की। किन्तु कार आ गई और दो-चार दिन चला ली कि उस अभिप्सा के आनन्द की बात समाप्त हो गई।

यही स्थिति है गुरु-शिष्य की देशात्मक दूरी की। एक वियोग-जनित वेदना अवश्य कचोटती है, किन्तु वह भी एक अलग ही प्रकार का आनन्द देती है। कई बार वेदनाओं में भी आनन्द छिपा रहता है श्रद्धा को आत्यन्तिक अभिवृद्धि के कारण!

**सांकरा**
६ फरवरी,

# अति परिचय ?

प्रिय से प्रिय व्यक्ति का सामीप्य जो आनन्द नहीं देता उसका विलगाव दे देता है। एक सूक्त है "अति परिचयादवज्ञा" सम्भव है परिचय की प्रगाढ़ता समीपता में अत्यधिक बढ़ जाती है, जो आदरणीय का भी अनादर कर बैठती हो। किन्तु यह अनुभूति जन्य तथ्य है कि अत्यन्त श्रद्धेय के प्रति भी किसी सीमा तक का ही सामीप्य वाञ्छनीय है। कुछ न कुछ अलगाव उसके प्रति भी अपेक्षित है, चाहे यह व्यवहार-नीति दर्शन की ही बात क्यों न हो। हाँ, समीपता इस हद तक बढ़ जाए, जहाँ "मैं" और "आप" का भेद ही समाप्त हो जाए केवल "तू" ही "तू" बच जाए तब बात अन्य है। पूर्णतादात्म्य भाव में 'मैं' का विलीनीकरण हो जाए तो निश्चित वह अनोखी समीपता होगी। वहाँ पुनः कभी विलगाव उत्पन्न ही नहीं हो सकता है। किन्तु व्यवहार जन्य समीपता से जागृत होना आवश्यक है।

नगरी
७ फरवरी

# व्यक्तित्व निर्णय

किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का ऊपरी अवलोकन कर सहसा उसके विषय में कोई इमेज-अवधारणा निश्चित कर लेना धोखाप्रद हो सकता है। क्योंकि किसी का भी प्रारम्भिक व्यवहार लुभावना एवं आकर्षक भासित होता है। किन्तु ज्यों-ज्यों हम उसकी गहराई में पैटते हैं, अन्तर की छलना मयी परतें उघड़ने लगती हैं। परिणामतः जितनी प्रगाढ़ प्रीति सहसा स्थापित हुई थी, उतनी ही गहरी घृणा फूट पड़ती है। निष्कर्ष की भाषा में कहें तो जो व्यक्ति जैसा दिखाई दे रहा है, वास्तव में वह वैसा ही नहीं होता है। ऊपरी आवरण में तथा आंतरिक विचारों में कभी-कभी सुवासित डाली पर लगे हुए पुष्प एवं कागज के अथवा प्लास्टीक के नकली पुष्पों-सा अन्तर होता है। स्मरणीय है कि आज नकली पुष्प ही अधिक मिलते हैं, असली नहीं।

**नगरी**

८ फरवरी

# जीवन दर्शन

चिन्तन की जितनी गहराई में उतरते जाते हैं, जीवन-दर्शन की इतनी ही परतें उधड़ती चली जाती है। इनका विश्लेषण सामान्य प्रज्ञा से नहीं किया जा सकता है। जीवन इतना जटिल है कि उसका विश्लेषण करते करते प्रज्ञा थक जाती है। इसलिए प्रभु महावीर ने कहा था— "तक्का तत्थ न विज्झइ, मई तत्थ न गाहिया।" जहाँ तर्क एवं बुद्धि विश्रान्त हो जाती है, जीवन अपनी सम्पूर्णता में उससे भी परे है। हमारी प्रज्ञा अथवा बुद्धि परिमित है और जीवन अपरिमित, जिसकी कभी थाह पायी ही नहीं जा सकती है। हाँ, प्रज्ञा की पराकाष्ठा, जिसे दार्शनिक भाषा में 'कैवल्य' कहते हैं, जो अपरिमेय है, उसी के द्वारा जीवन की जटिलतम अपरिमेयता को नापा अथवा परखा जा सकता है। अन्यथा हम कितने ही चिन्तन में खोते चले जाएं, जीवन को उसकी सर्वांगीणता में समझ पाना जटिल होता चला जाएगा।

**नगरी**

९ फरवरी

## गर्ल फ्रेण्ड

कुछ युवकों से कॉलेज लाइफ के सन्दर्भ में चर्चा चल रही थी। एक युवक ने कहा-महाराजजी ! गर्ल फ्रेण्ड बनाना क्या बुरा है ? जैसी लड़कों के साथ मित्रता होती है, वैसे ही लड़कियों के साथ भी तो हो सकती है। और आज का माहौल ही कुछ ऐसा है कि कॉलेज के जिस स्टुडेन्ट के "गर्ल फ्रेण्ड" नहीं है वह दकियानूस एवं पुराणपन्थी माना जाता है।

मैंने साधारण-सा उत्तर दिया- "गर्ल फ्रेण्ड बनाना बुरा नहीं है, किन्तु उसके परिणाम बहुत बुरे हैं, जो आज आपके समक्ष हैं। कल्पना करिये-- आपने दो चार गर्ल-फ्रेण्ड बनायी, उसी प्रकार कोई युवक आपकी बहन को भी अपनी गर्ल-फ्रेण्ड बनाने को हाथ बढ़ाता है और बना लेने के पश्चात् वह कुछ अति सीमा तक घनिष्ठ हो जाता है। उस समय आपकी मनः स्थिति क्या होगी ? व्यक्ति हर बात को स्वयं पर लेकर सोचे तो उसकी सदोषता एवं निर्दोषता स्पष्ट हो जाती हैं।

**नगरी**
१० फरवरी

## आज की संवेदन क्षमता ?

आज हमारी संवेदन-क्षमता क्षीण होती जा रही है, हमारा चित्त संवेदन शून्य-सा होता जा रहा है। किसी दुःखी, अभावग्रस्त अथवा वेदना से कराहते हुऐ मानव को देखकर हम ऐसे गुजर जाते हैं, जैसे कुछ हुआ ही नहीं हो। उसके प्रति हमारा हृदय किञ्चित् मात्र भी संवेदित नहीं हो पाता। क्या इसे यों नहीं कहा जा सकता है कि हमारी चेतना भाव-शून्य होती जा रही है। संवेदना स्व के केन्द्र से विस्तृत होकर जब तक विश्व-प्राणो को अपनी परिधि में नहीं समेट लेगी, हम उसकी क्षमता की अनुभूति नहीं कर सकते।

**नगरी**
११ फरवरी

# राष्ट्रीय संकट

हम स्वीकार करें या न करें, आज सम्पूर्ण देश पर गहरा संकट छाया हुआ है, और वह है "चारित्रिक पतन का।" मानव द्वारा मानव का शोषण, उत्पीड़न, अतिक्रमण, विखण्डन एवं अत्याचार क्या नैतिक पतन की कोटि में नहीं आएंगे ? और नैतिक पतन किन्हीं अंशों में चारित्रिक पतन नहीं है ? नैतिकता एवं सच्चरित्रता बहुत अंशों में सम्बद्ध हैं। हाँ, सच्चरित्रता का आयाम विस्तृत है और नैतिकता उसका एक हिस्सा।

**नगरी**

१२ फरवरी

# अस्थिर आस्थाएं

आधुनिक युग के मानव की आस्थाएं क्षण-क्षण में परिवर्तित होती रहती है। इसका अर्थ है कि वे आस्थाएं सत्य नहीं है। किसी व्यक्ति का धर्मान्तर, मन्तान्तर अथवा सिद्धान्तान्तर हो सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उसका व्यक्तित्व ही परिवर्तित हो जाए और वह सत्य के द्वार तक पहुंच जाए। क्योंकि सत्य किसी तथाकथित श्रद्धा, धर्म या सिद्धांत से ही सम्बद्ध नहीं है। सत्य तो है साक्षात् अनुभव।

निर्बल व्यक्ति के धर्मान्तर या श्रद्धान्तर का तो अर्थ है-धार्मिक-पूजा, विधि-विधान का एक रूप छोड़कर दूसरे किसी अधिक आकर्षक अथवा प्रभावशाली रूप को स्वीकार कर लेना, और हो सकता है कल इससे अधिक आकर्षक सिद्धांत के मिलने पर वह उसे भी छोड़ दें।

**नगरी**

१३ फ़रवरी

# विवेक शून्य साधना

विवेक शून्य किसी बन्धी-बंधाई अर्चना-विधि अथवा भक्ति-नृत्य में एक शांति का आभास होता है। वह एक ऐसे वातावरण का निर्माण करती है जिसमें शरीक होने वाले को लगता है कि वह किसी ऊँचे धर्म-मार्ग पर चल रहा है। वैसे भी दिन भर के उबाऊ व्यवहारों से व्यथित व्यक्ति कुछ क्षण के लिये मुक्ति चाहता है और वह उसे उस वातादरण में मिल जाती है। क्योंकि वहाँ उसे कुछ सौन्दर्य एवं सुव्यवस्था उपलब्ध होती है। किन्तु मूल-स्पर्शी विचार करने पर लगेगा, यह भी एक उत्तेजक पदार्थ के सेवन करने जैसा ही है। क्योंकि इसमें भी व्यक्ति ऐसा अभ्यस्त हो जाता है कि एक नशे जैसी मस्ती उसमें छाने लगती है। आत्म केन्द्रित होने का अर्थ तो है– निरन्तर जागरूकता, जिसमें किसी तन्द्रा का अथवा अभ्यस्त वृत्ति का प्रवेश ही नहीं हो पाता।

**जवरी**

१४ फरवरी

## आत्म दर्शन

आत्म-दर्शन अथवा आत्मानुभूति का यह अर्थ कदापि नहीं होता कि हमने उस पर ढेर सारी पुस्तकें पढ़ ली अथवा लिख दी, और न आत्मानुभूति का यह अर्थ है कि हम उस पर धारा-प्रवाह प्रवचन दे लेते हैं, तत्सम्वन्धि प्रश्नों का सचोट उत्तर दे सकते हैं। पर, आत्मानुभूति का अर्थ होता है-संसार की प्रत्येक आत्मा में आत्मत्व भाव की, तादात्म्य की अथवा तदात्मकता की अनुभूति हो जाना। जब तक हम अपने को दूसरों में और दूसरों को अपने में ही नहीं देख लेते, चैतन्य की उस विराट सत्ता का दर्शन नहीं कर सकते। जब तक प्राणी मात्र के प्रति हमारा चित्त आत्मत्व की संवेदना से संवेदित नहीं हो जाता, आत्म-साक्षात्कार की भाव-भूमिका निर्मित नहीं हो सकती। और उसके विना आत्मानुभूति का साक्षात्कार कथमपि असम्भव है। इसे ही तो प्रभु महावीर से स्पष्ट किया— "आय—तुलें पयासु।"

**गरियाबन्द**

१५ फरवरी

# जिज्ञासा-समाधान

अपनी जिज्ञासा के समाधान की हममें कितनी उत्सुकता रहती है। अपनी समस्या का समाधान पाने के लिये, उसका कोई सहज मार्ग खोजने के लिये हम बहुत सजग एवं प्रयत्नशील रहते हैं। इसका अर्थ है, हमारा चित्त प्रश्नाकुल नहीं रहना चाहता। वह हर प्रश्न का समाधान शीघ्र चाहता है और यह स्वाभाविक भी है। किन्तु कई बार समाधान को इस दौड़-धूप में हम यह भूल जाते हैं कि सामान्य से चिन्तन के द्वारा इस प्रश्न का हल हम खुद ही कर सकते हैं। विपरीत इसके, अस्वस्थ मन एवं चिन्तायुक्त अन्तःकरण से व्याकुल चित्त से ही समाधान पाने का प्रयास करते हैं। ऐसी स्थिति में सफलता अत्यन्त संदिग्ध है। यद्यपि प्रश्न हमारे द्वारा ही निर्मित होता है, तथापि उसका उत्तर हम सदा दूसरे से खोजते हैं। वस्तुतः उत्तर प्रश्न से भिन्न होता है, क्योंकि हर प्रश्न के पूर्व उसके समाधान निश्चित होते है। थोड़ी गहराई में जाएँ तो वे हमें सहज मिल जाते हैं।

**गरियाबन्द**

१६ फरवरी

# राजनैतिक युग

शायद यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि आज के जन-मानस पर राजनैतिक परिचर्चाएँ छाती जा रही हैं। जहाँ कहीं जायें पान की दुकान पर, ठेले के ईर्द-गिर्द अथवा होटल पर, पाँच व्यक्तियों की चर्चा का विषय, आमतौर पर राजनीति का ही पाते हैं। दैनिक समाचार पत्रों को ही ले। उनके मुख पृष्ठ ही नहीं, अन्य पृष्ठों के भी अधिकांश भाग उसी चर्चा से रंगे हुए मिलेंगे। यह सत्य है कि अन्य सन-सनीखेज समाचारों को भी समाचार पत्रों में स्थान मिलता है, पर उतना नहीं, जितना कि राजनीति को। फिर जो कुछ स्थान मिलता है, उसे भी राजनीतिक पुट देने का पूरा प्रयास किया जाता है।

किन्तु यह सत्य है कि इस परिवेश में हम अपने असली रूप को ढकने का ही प्रयास कर रहे हैं, अपने जीवन की सम्पूर्णता को भूलते जा रहे हैं। राजनैतिक चर्चा विश्व समस्या का हल नहीं दे सकती है।

**रूवाड़**

१७ फरवरी

# अनुभूति और अनुभव

अनुभूति एक चीज है और साक्षात् अनुभव उससे सर्वथा भिन्न। अनुभूति सुखद, दुख:द अथवा घृणास्पद हो, वह साक्षात् अनुभव को कभी विकसित नहीं होने देती। क्योंकि अनुभूति प्राय: सापेक्ष होती है, जबकि साक्षात् अनुभव निरपेक्ष। वह अन्त: चेतना से ही उद्भूत होता है। अनुभूति का अर्थ है जो भूतकाल से संवद्ध हो चुकी है, केवल स्मृति रूप में बच रही है। किन्तु अनुभव सदा जीवी होता है। काल की अज-स्रधारा में वह वर्तमान पर तैरता चलता हैं।

**धर्मबान्धा**

१८ फरवरी

# जीवन अर्थात् सहजता

जीवन कितना जटिल है, यह चिन्तन मन को न जाने क्यों पुनः-पुनः कुरेदता रहता है और हम इस चिन्तन की गहराई में जितने गहरे डूबते जाएं, जीवन उतना ही जटिल प्रतीत होता है। वास्तव में जीवन को सर्वांगीण रूप से समझ पाना अपने आप में अत्यन्त कठिन है। हाँ, इसके लिए एक उपाय अवश्य है और वह है "सहजता"। हम जितने सहज बनते चले जाएंगे, जीवन सहजता से समझ में आता जायेगा।

**धर्मबान्धा**

१६ फरवरी

# सुरक्षा के प्रयास कितने उथले ?

कई बार व्यक्ति शारीरिक एवं चारित्रिक सुरक्षा का भरसक प्रयास करते हैं। और उसके लिये एक सुरक्षात्मक आवरण का निर्माण करते हैं। किन्तु बहुत बार वह प्रयास उस रेशम के कीड़े जैसा उपहासास्पद भी हो जाता है, जो अपनी सुरक्षा के लिए अपने चारों तरफ सुन्दर रेशम-से धागों की जाली बनाता है। किन्तु वही जाली का आवरण उसे कीड़े का संहार निमित्तक बन जाता है। न जाने कितने अथक प्रयासों के द्वारा इन्सान भौतिक सम्पदाओं को एकत्रित करने में जुटा रहता है और उसे ही अपनी सुरक्षा का अभेद्यकवच समझता है। किन्तु जीवन में सहसा ऐसे क्षण आते हैं, जब वह अभेद्यकवच स्वयं की देह के साथ ही ऐसे चिपक जाता है कि व्यक्ति श्वास तक नहीं लेने पाता और उसी में अपनी लीला समाप्त कर देता है। जागतिक स्वामित्व का मोह बन्धन और परवशता है। स्वामित्व का भाव एक नशा है और स्पष्ट है कि व्यक्ति को नशे में डूबना पड़ता है, न कि नशे को व्यक्ति में। जो नशे में डूब जाता है, उसे भोगी कहते हैं, और जिसमें नशा डूब जाता है, वह योगी होता है।

चरित्र तो शक्ति है। हम उसकी शरण में जाते हैं और वह हमें सुरक्षित तथा जगमग कर देता है। जिस समय हम चरित्र की सुरक्षा के लिये चिन्तित होते हैं, उस समय वस्तुतः हम चरित्र के अधूरे अथवा अधबुझे अर्थ बोध से पीड़ित होते हैं।

**साराभोग**

२० फरवरी

## कल्पना की उड़ान

कई बार मन कल्पना की गगन-स्पर्शी उड़ानों में पहुंच जाता है और ज्ञान-विज्ञान-दर्शन एवं साधना के उच्चतम शिखरों के स्पर्श का आनन्द लेने लगता है। किन्तु उस चील पक्षी की भाँति, जिसे गन्दगी के ढेर पर पड़ा माँस का टुकड़ा दिखाई दे जाता है, सामान्य से इन्द्रियाकर्षण के निमित्त मिलने पर एक झटके के साथ नीचे उतर आता है। क्षणभर पूर्व की गगनस्पर्शी उड़ान क्षणान्तर में गन्दगी भरी धूल चाटने को बेताब हो जाती है। मन की इस दोहरी स्थिति में क्या साधना फलित हो सकती है? वास्तविकता तो यह है कि हमारी वह गगन चुम्बी उड़ान कल्पनालोक की सैर मात्र थी, आस्थापूर्ण सच्चाई नहीं। सत्य के साक्षात्कार के पश्चात् भटकने का प्रश्न ही नहीं उठता है। सत्य के अवतरण के साथ ही भटकाव तिरोहित हो जाता है।

**खरियार रोड़**
२१ फरवरी

## आज के उपदेश-चाबीवाला खिलौना

आज के उपदेश एवं उनका प्रभाव कुछ इसी प्रकार का बन गया है, जैसे कि चावी वाला खिलौना। जब तक चावी भरी जाए, तब तक तो खिलौना चलता है, और चाबी समाप्त हुई, कि खिलौने की गति वन्द। ठीक यही दशा है आज के उपदेशों की। जब तक उपदेश श्रवण कर रहे हैं, बड़ा रस आता है, बड़ा आनन्द आता है, और लगता है कि सुनते ही रहें, किन्तु यह प्रभाव सुनने तक ही सीमित रह जाता है। प्रवचन स्थल से उठने के पश्चात् प्रायः वह सम्पूर्ण प्रभाव न जाने कहाँ छूमन्तर हो जाता है। ऐसी स्थिति में विचारणीय है कि उपदेशों की क्या अर्थवत्ता रह जाती है। क्या यह केवल (फार्मलिटी) औपचारिकता निभाना मात्र नहीं है?

**खरियार रोड़**
२२ फरवरी

## अपनी प्रशंसा और उसका उत्तर

कुछ भावुक एवं श्रद्धालु बन्धु कहते हैं– "महाराज, आपने थोड़े समय में अच्छी प्रगति कर ली है।" सोचता हूं- क्या उत्तर दिया जाय इस जिज्ञासा का ! व्यावहारिकता के बतौर छिपे-छिपे से स्वर फूट पड़ते हैं "नहीं, कुछ नहीं, सब गुरुदेव की कृपा है।" किन्तु क्या यह उत्तर अपने आप को संतुष्ट कर पाता है ? श्रद्धालु चित्त भले ही क्षण-भर को प्रशंसा करके संतुष्ट हो जाए। किन्तु अपना अन्तरावलोकन जिज्ञासा की गहराई को छूने को प्रेरित करता है। क्या वास्तव में कुछ प्रगति हुई है ? और हुई है तो वाञ्छित-उद्दिष्ट के विषय में ही ? उत्तर आता है सीधा किन्तु सचोट, 'नहीं,' वाञ्छित विषय है– "साधना" और उसमें पूर्ण प्रगति नहीं बनपाई है। हाँ, आनुषंगिक विषय "ज्ञान" में अवश्य कुछ प्रगति परिलक्षित होती जाती है।

जिज्ञासा पुनः उत्प्रेरित करती है–प्रगति की परिभाषा क्या ? और वह भी ज्ञान के सन्दर्भ में ? क्या अधिक से अधिक पुस्तकों, शास्त्रों-ग्रन्थों का अध्ययन ज्ञान प्रगति के अन्तर्गत आ सकता है ?

क्या इसे ज्ञान के क्षेत्र में विकास की संज्ञा दी जा सकती है ? वहुत कठिन है प्रश्न का हल खोजना, किन्तु अन्तरंग स्वर स्पष्ट कहते हैं कि यह ज्ञान नहीं है। जगत के लिये योग्य होना ज्ञान नहीं है। ज्ञान तो मुक्तिदायक है।

ज्ञान की प्रगति का अर्थ है-आत्मिक ज्ञान के करीब हो जाना, जहाँ शब्द नहीं, अनुभूति भर शेष बचती है। आज का हमारा ज्ञान, चूंकि शब्द भण्डार के परिबोध तक सीमित हो गया है, अतः उसे ज्ञान प्रगति से अभिसंज्ञित करना, ज्ञान को अत्यन्त क्षुद्र रूप से परिभाषित करना होगा। शाब्दिक ज्ञान, ज्ञान नहीं, अभिव्यक्ति का साधन मात्र है।

**खरियार रोड़**

२४, २५ व २६ फरवरी

## अस्थिर साधना

**क्या** उस भवन का निर्माण कभी पूर्ण हो सकेगा, जिसकी दीवारें दिन भर के परिश्रम से खड़ी होती हैं और रात्रि के अन्धकार के घिरते ही पुनः धराशायी हो जाती है ? कितनी ही सुखद एवं सुन्दर प्लानिंग क्यों न हो, योजनाएँ कितनी ही सुन्दर नक्शे की क्यों न हो, जिस भवन की दीवारें भवन–निर्माण के पूर्व ही ढह जाती हैं, वह भवन अपने अस्तित्व में कभी नहीं आ सकता है। कहीं यही स्थिति तो साधना की ऊँची उड़ानों की नहीं है ? तीव्र मनोबल के द्वारा निर्मित इन्द्रिय-संयम हल्के-से निमित्त के झटके से आहत हो धराशायी हो जाता है। क्या ऐसी स्थिति में यह आशा करना सार्थक होगा कि हम अपनी साधना के द्वारा साध्य-उपलब्धि की भव्य इमारत तैयार कर लेंगे ?

**खरियार रोड़**
२७ फरवरी

# धर्म प्रभावना: आधुनिक व्याख्या

आधुनिक परिवेश में धर्म जागृति किंवा धर्म-प्रभावना की परिभाषा ही वदल चुकी है। बहुत बड़े जन-समूह का एकत्रित हो जाना, धर्म गुरूओं के समक्ष बड़े राजनेताओं का आ जाना या लाया जाना, अच्छी खासो भोड़ इकट्ठी हो जाना धर्म-जागृति का मुख्य सूत्र बन गया है। जहाँ कहीं ऐसा वातावरण बनता है, तो लोग बड़े गर्व से कहते हुए मिलते हैं, 'कितना बड़ा ठाठ लगा था वहाँ पर, कितने प्रभावक हैं, सन्त। किन्तु चिन्तनीय है कि क्या सिर्फ भीड़ इकट्ठी कर लेने भर की विशेषता से किसी को महापुरूष माना जा सकता है! अथवा इतनी सी विशेषता को मुख्यता देकर किसी महापुरूष के व्यक्तित्व को हम बौना नहीं बना देते हैं ? महापुरूष का व्यक्तित्व अपनी गरिमापूर्ण साधना से मण्डित एवं संख्यातीत उच्चतम विशेषताओं से भूषित होता है। किन्तु सामान्य जन उसे एक सामान्य विशेषता से ही अंकित करते हैं।

खरियार रोड़
२८ फरवरी

# नूतनता ?

स्वस्थ चित्त का स्वभाव है, नित नूतनता की ओर अग्रसर होना। बालक, युवा, अनपढ़ या विद्वान सभी के मन में नवीनता के प्रति एक ललक-सी बनी रहती है। कोई भी नवीन दृश्य सामने आया नहीं कि नेत्र वहीं गड़ जाते हैं। नेत्र ही नहीं, प्रत्येक इन्द्रिय नवीन विषयों के प्रति सहज आकृष्ट होती है। नित नूतन जिज्ञासाओं के परिवेश में जीना मानव मन का शाश्वत स्वभाव है।

किन्तु चिन्तनीय यह है कि संसार में क्या कोई नूतन पदार्थ हैं? यह नूतनता पर्याय परिवर्तन मात्र नहीं है? यदि यह पर्याय-परिवर्तन मात्र है, तो इसके प्रति होने वाला आकर्षण एक भुलावा अथवा अज्ञान मात्र नहीं है? ज्ञान-दृष्टि का अर्थ है, इस अज्ञान से मुक्त होना।

**खरियार रोड़**
१ मार्च

# साधना-अन्तर की गहराई में डुबकी

साधना शब्दों का विषय नहीं है, जैसी कि आम धारणा बन गई है। कुछ गीत गुनगुना लेना, शास्त्रीय शब्दों को दोहरा देना अथवा माला जप लेना मात्र साधना नहीं है और न साधना के सन्दर्भ में विस्तृतचर्चा कर लेना ही साधना है। साधना है अन्तर की गहराईयों में पैठना। शाब्दिक दृष्टि से अन्तर तत्व की खोज रूप साध्य के लिये की जाने वाली सतत् जागृतमयी क्रिया का नाम साधना है।

सागर के ऊपर तैरने वाला व्यक्ति पानी अथवा शैवाल ही प्राप्त कर सकता है, बहुमूल्य मणि-मुक्ता नहीं, मुक्ता-प्राप्ति के लिये समुद्र की गहराई में पैठना पड़ता है। यही स्थिति साधना के सन्दर्भ में है। साधना की उच्च भूमिका का स्पर्श करने के लिए ध्यान के द्वारा चित्त सागर की गहराई में पैठना होता है।

**खरियार रोड़**

२ मार्च

# अपना अस्तित्व

कभी-कभी व्यक्ति चिन्तन की धारा में बह जाता है तो अपने अस्तित्व का सहज चिन्तन असहज हो उठता है। क्या अर्थ है इस होने का ? इतनी दीर्घावधि में क्या समझा, क्या किया और क्या पाया ? अज्ञानता की अन्धेरी गलियों में भटकता रहा, अपनी असलियत को भ्रमों के दुशाले में लपेट कर हेय को उपादेय और उपादेय को हेय समझता रहा। न जाने कितने अपनों को पराया और परायों को अपना समझ, हंसी और रूदन का माध्यम बनाया। ठीक से न किसी को समझ पाया और न समझने का प्रयास किया ।

निरन्तर स्व-अज्ञानता की लहरों पर तैरता यह अस्तित्व, स्वयं की अस्थिरता को ही अभिव्यक्त कर रहा है। क्या है, कैसी है, और कहाँ है, इसकी सार्थकता ।

निरन्तर दुःख-द्वन्द्व एवं संघर्षों से जूझता यह अस्तित्व, अपने द्वारा ही निर्मित पाश में जकड़ गया। स्वयं ने चारों ओर कांटों का जाल विछाया और सदा उन काँटों में ही मृदु पुष्प शैय्या के आनन्द की खोज करता रहा। इस विपरीत अनुसंधान में स्वयं ही अनुभूतियों के पदाघातों से आहत हो टूट-टूट जाने की ओर अग्रसर हो रहा है।

आज का अस्तित्व अपने अस्तित्व के प्रति आशंकित है। न उसे अपनी सत्ता का वोध है और न उसकी उपादेयता का । ऐसी स्थिति में यदि वह मृग मरीचिकाओं का शिकार वना रहे, तो क्या आश्चर्य ! कम से कम भ्रांति एवं भ्रमों के आवरणों से तो अपने को सुरक्षित वना लेने का भ्रामक प्रयास कर सकता है ।

**खरियार रोड़**

३, ४ व ५ मार्च

# जीवन एक मृगमरीचिका

आध्यात्मिक आलोक के अभाव में जीवन एक मरूभूमि के अतिरिक्त कुछ नहीं है, जिसमें प्राणि-मृग छलनाओं एवं दुराशाओं की मरीचिका लिये निरन्तर दौड़ता रहता है और आशा की बेल को विस्तृत करता जाता है। यहां पद-पद पर अपने आप से छलना भरी है। प्रत्येक व्यक्ति उस भोले शशक की भांति अपने कानों से ही अपनी आँखों को ढंक कर अपने को सुरक्षित समझने का प्रयास करता दिखाई देता है।

व्यक्ति अपने अस्तित्व को अनस्तित्व की आस्था की चादर से ढंक कर ईर्द-गिर्द छलना का जाल बुनता दिखाई देता है, ताकि वह कभी अपनी मौलिकता को समझने का दुखद अहसास न कर सके। विचित्र है यह मृग मरीचिका एवं शशक वृत्ति।

**नयापारा**
६ मार्च

## जटिल समस्या-स्वयं में प्रतिष्ठित होना

सबसे जटिल समस्या है, स्वयं में प्रतिष्ठित होना। होने न होने के समान यह अस्तित्व अपने केन्द्र से अत्यधिक भटक गया है। स्व की उपलब्धि के प्रयास अवश्य चल रहे हैं, किन्तु प्राय: वे सभी प्रयास भ्रमपूर्ण होने से भटकाव के कारण बनते जा रहे हैं। जिस विनश्वर सत्ता के माध्यम से अविनाशी को खोजा जा रहा है और उसकी उपलब्धि हेतु जिस तथाकथित प्रक्रिया का जो स्वांग रचा जा रहा है, वह हास्यास्पद ही सिद्ध हो रहा है।

गम्भीर चिन्तन तो इस तथ्य का साक्षी है कि अपने आप से ही अपने आप में समाहित हुआ जा सकता है। अपने से ही समस्त तनाव, टकराव एवं व्यवधान समाप्त किये जा सकते हैं, किसी वाहरी सत्ता के माध्यम से नहीं।

कुरूमपुरी

८ मार्च

## आवरणों में ढ़का चैतन्य

मानव इतिहास के आदिकाल से ही सामूहिक चेतना की सहज बुद्धि पर कृत्रिमता के आवरण परत-दर-परत चढ़ते जा रहे हैं। हर व्यक्ति अपने आप में कृत्रिम आवरणों के बोझ से इतना अधिक लद गया है कि उसे अपनी मौलिकता का अहसास ही नहीं हो पाता है। जव तक साहजिक वुद्धि के आधार पर चिन्तन प्रारम्भ नहीं हो जाता है, आवरण वढ़ते जायेंगे और चेतना अपनी मूल स्थिति से भटकती ही जाएगी।

साधना के चरम विन्दु तक पहुंचने के लिये, सहज वुद्धि, सहज जीवन और सहज अनुशीलन अनिवार्य शर्तें हैं "धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई" की आगमवाणी, इसी साहजिकता पर वल देती है।

हरिशंकर रोड़

९ मार्च

## अपनी वस्तु ?

कौन-सी वस्तु ऐसी है संसार में, जिसे हम अपना कहने का साहस कर सकें ? तन, धन, मन और परिजन, कुछ भी तो अपना कह सकने जैसा नहीं है। आत्म-अज्ञान के कारण भले ही हम अपने आपको भुलावे में डाल कर अपना-अपना पुकारते रहे हैं, किन्तु ज्ञान-नेत्र खुलते ही सब कुछ स्पष्ट हो जाता है कि यह अपनापन आत्मप्रवञ्चना मात्र है।

जिस तन, धन और परिजन के प्रति प्रगाढ़ अपनत्व स्थापित किया, जीवन की संघर्षपूर्ण दुःखद घड़ियों में वे हमें एकाकी एवं असहाय बनाकर छोड़ देते हैं। इसका अहसास तो हम दैनन्दिन क्रियाओं में करते ही रहते हैं,किन्तु उनके प्रति जो अपनत्व का भ्रम है, वह जटिल है। उसका अनुभव तो चेतना के उर्ध्वमुखी होने पर ही हो सकता है। किन्तु यह निश्चित है कि संसार में ऐसी कोई वस्तु दिखाई नहीं देती, जिसे अपना कहा जा सके।

**हरिशंकर रोड़**

१० मार्च

# प्रकाश की चर्चा

अधिकांश मानव अन्धकार में जीते हुए भी प्रकाश की बातें इसलिये करते हैं कि वे भूल जाएँ कि अन्धकार में जी रहे हैं। वास्तव में वे इस बनावटी प्रकाश में जीने के आदी बन गए हैं और आत्मा के मौलिक प्रकाश पर जान बूझ कर आवरण के लबादे चढ़ाते जा रहे हैं।

प्रकाश और अन्धकार तो प्रतीक मात्र है, असल में अज्ञान के सघन आवरण ही सम्पूर्ण चेतना को ग्रसे हुए हैं।

आवरणों की ओट में इन्सान अपने आपको कितना छलता रहा है, आज यह एक दार्शनिक सूत्र-सा बन गया है। सम्भवत: इन आवरणों से परिवेष्टित इन्सान अपने आपको सुरक्षित बनाने का निष्फल प्रयास करता रहा है और वे आवरण धीरे-धीरे इतने सघन बनते जाते हैं कि अपना असली रूप पूर्णतया आच्छादित हो जाता है।

**कांटा भांजी**

११, १२ मार्च

# संघर्ष नवीनता-प्राचीनता का

नवीनता एवं प्राचीनता के संघर्ष से इतिहास के पृष्ठ सदा सदा से पोषित रहे हैं। सदियाँ बदलती हैं, वातावरण परिवर्तित होता है, उसके साथ ही सामाजिक एवं व्यावहारिक परिवेश भी अपने प्राचीनता के व्यामोह को छोड़ कर नूतनता की ओर अग्रसर होने लगते हैं। वेश-विन्यास, रहन-सहन, खान-पान आदि के व्यावहारिक तौर-तरीकों में भी परिवर्तन का यह क्रम स्पष्ट परिलक्षित होता है। इतना होते हुए भी जीवन के कुछ ऐसे शाश्वत् मूल्य होते हैं जो सदा अपरिवर्त्य ही बने रहते हैं। प्राकृतिक दृष्टि से चन्द्र-सूर्य आदि प्रकृतिगत तत्वों का गतिक्रम एवं लाक्षणिक दृष्टि से अग्नि-जल आदि में उष्णत्व शीतत्व आदि पदार्थों का मौलिक गुण शाश्वत है।

लाख प्रयास करने पर भी हम पदार्थों के मौलिक स्वभाव में परिवर्तन लाने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। तथापि नूतनता लिप्सु मानव न मालूम क्यों पुरातन से चिढ़कर नवीनता के प्रति ही आग्रही बन जाता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हर नवीन पीढ़ी को अपने से पुरानी पीढ़ी के विचार-आचार एवं व्यवहार दकियानूसी से लगते हैं। अतएव युवा एवं प्रौढ़ों में सदा–सदा से वैचारिक मतभेद रहा है। हर युवा अपने अभिभावकों को पुराण पंथी, धर्म ढोंगी आदि शब्द से पुकारता है, चाहे पीठ पीछे ही सही। साथ ही यह भी तथ्य है कि उन अभिभावकों की स्थिति भी अपने यौवन काल में वही रहती है, जिसे वे अपने प्रौढ़ काल में कोसते हैं।

इस ज्वलन्त संघर्ष का मूल कारण है-नवीनता के प्रति आकर्षण। वास्तव में इस संघर्ष को प्राचीनता किंवा पुराणता एवं नवीनता का संघर्ष कहना अधिक संगत होगा। पुरातनता के प्रति उपेक्षा एवं नूतनता के प्रति आकर्षण मानव मन की सहज प्रवृत्ति है, किन्तु जब यह प्रवृत्ति एकान्तिक आग्रह का रूप ले लेती है तो संघर्ष का सूत्र पात होता है।

आज का युवा मानस परम्पराओं के पुरातन चौखटों को खटखटाता हुआ नई व्याख्याओं एवं तथा कथित स्वस्थ स्थापनाओं के लिए आतुर हो रहा है। वह नहीं चाहता है कि हम केवल पुरातन परम्पराओं के साथ ही चिपक कर बैठ जाएँ। उसकी मांग होती है कि परिवर्तन के साथ हमारी व्यवस्थाएँ बदलनी चाहिए। जब समस्याएं बदलती है तो समाधान भी निश्चित बदलेंगे। समस्याओं के अनुरूप ही समाधान हो सकते हैं।

अतः युवा-दृष्टि के अनुसार, हमारे विचारों के अनुसार आचार-व्यवहार एवं रहन सहन के सभी तौर-तरीके बदल जाने चाहिये और युवा दृष्टि सदा इसी के लिए प्रयत्न और संघर्ष रत भी रहती है। कभी-कभी अपनी इस तथाकथित क्रांति में बाधक होने वालों के प्रति वह असहिष्णु भी हो उठती है।

परिवर्तन का एकान्तिक आग्रह कई बार जीवन एवं सिद्धांत के मूल उद्देश्य को भी नजर अन्दाज कर जाता है। बुद्धिवाद की हठवादिता उसे अपने लक्ष्य से ही भ्रष्ट कर देती है। आज युवा वर्ग प्राचीन विचारों एवं व्यवहारों को हठवाद कह-कर पुकारता है, किन्तु वह भूल जाता है कि हमारा नूतनता का आग्रह भी तो किसी हठ से कम नहीं है।

आज चारों तरफ एक ही आवाज है परिवर्तन-परिवर्तन ! किन्तु परिवर्तन के इस प्रवाह में इस सत्य को भुला दिया गया है कि जब हमारा उद्देश्य नहीं बदला है, तो विधेय कैसे बदल सकता है। लक्ष्य के अनुसार ही तो गति क्रम होता है। परिवर्त्य-अपरिवर्त्य के इस क्रम में जीवन के वे मूल्य भी प्रतिष्ठित होते हैं, जो जीवनोन्नति में नितान्त अपेक्षित हैं। जीवन की अनेक विधाओं में कुछ ऐसी रूढ़ मान्यताएं भी हैं, जिनका सर्जन समय विशेष में परिस्थितियों के आधार पर किसी विशेष उद्देश्य की सम्पूर्ति हेतु हुआ, किन्तु आज के प्रचलित परिवेश में वे सर्वथा अनुपादेय सिद्ध हो रही हैं। उनके पीछे चिपके रहना उद्देश्य से भटकना हो सकता है।

किन्तु कुछ ऐसी अवधारणाएं भी हैं जो सुदीर्घ काल के पश्चात् भी उतनी ही उपयोगी होती हैं, जितनी कि अपने आदिम काल में थी। उनमें परिवर्तन का अर्थ होगा, जीवन के शाश्वत मूल्यों में परिवर्तन करना और वह परिवर्तन किसी भी दृष्टि से उपादेय नहीं हो सकता है। जैसे जीवन की मूल-भूत समस्याएं हवा-पानी और भोजन की है, उनमें कथमपि कोई परिवर्तन सम्भव नहीं हो सकता है।

परिवर्तन-अपरिवर्तन के इस क्रम में जब दोनों ओर से आग्रह होता है तो असहिष्णुता की आग पूरे सामाजिक वातावरण को झुलसा देती है। अतः नवीनता का आग्रही-अन्धानुकरण और पुराणता का व्यामोह, दोनों हानिप्रद सिद्ध हुए हैं।

आज बुद्धिजीवी मानस यह नहीं चाहता कि हमारी सामाजिक, पारिवारिक एवं राष्ट्रीय चेतना किन्हीं पुराणपन्थी रुढ़ियों से ग्रस्त रह-कर विकास के चौखटों पर संगीन ताले कसदे, फलस्वरूप हमें असहिष्णु बनना पड़े। विकास के द्वार तो तभी खुले रह सकते हैं जबकि हम नवीन तथ्यपूर्ण स्वस्थ स्थापनाओं का हृदय से स्वागत करें। अन्यथा असहिष्णुता का दौर अवश्यंभावी है।

उपर्युक्त परिस्थिति में तथाकथित धार्मिक संस्थाओं किंवा सम्प्र-दायों की वैचारिक असहिष्णुता वर्तमान धार्मिक अनास्थाग्नि के इन्धन में घृत का पार्ट अदा करती है और दोनों तरफ की असहिष्णुता मिलकर समाज के मूल ढांचे को ही चरमरा रही है।

प्राचीनता और नवीनता के नाम पर परिवर्तन की जो स्थिति दृष्टिगोचर हो रही है, वह किसी तथ्य को उजागर नहीं करती है। दोनों ओर से प्रज्ञा के चक्षु बन्द कर केवल खींचतान का ही प्रयास चल रहा है। अनेकान्त दर्शन की बुलन्द आवाज लगाने वाला हमारा दर्शन स्वयं एकान्तवाद की जंजीरों से जकड़ता जा रहा है। वह तथा कथित बुद्धि-जीवी सोच नहीं पाता है कि परिवर्तन में क्या हम अपनी संस्कृति के कुछ भी अवशेष बचने देंगे? क्या इससे हमारी साँस्कृतिक गरिमा सुर-

क्षित रह पाएगी ? अथवा क्या हमारे पास ऐसा कुछ बचेगा, जिसे हम साँस्कृतिक धरोहर कह सकें ?

ऐसे अनेक प्रश्न आज के तथाकथित परिवर्तन के हिमायती बुद्धिजीवी के सामने मुंह बाएं खड़े हैं जो सचोट, किन्तु स्थायी समाधान चाहते हैं।

अभी हम सामाजिक, पारिवारिक आदि अन्याय क्षेत्रों को गौण करके केवल धार्मिक आध्यात्मिक क्षेत्र के विषय में ही चिन्तन करें।

अपनी सांस्कृतिक धरोहर की सुरक्षा का चिन्तन किए बिना ही परिवर्तन की अन्ध प्रतिस्पर्धा की चपेट में अध्यात्म भी पूरी तरह आ चुका है। युग परिवर्तन की ओट में एवं तथा कथित सुधार वादियों के नेतृत्व में धर्म के क्षेत्र में आज जो कुछ अन्ध परिवर्तन की प्रतिस्पर्धा-सी दिखाई दे रही है वह किसी भी स्थिति में स्वस्थ समाज रचना का मार्ग प्रशस्त नहीं कर सकती है। युगानुकूलता के आधार पर निरन्तर बढ़ती जा रही यन्त्र वादिता श्रामण्य जीवन की संस्कृति को समाप्त किये जा रही है। प्रारम्भ में यन्त्रोपयोग प्रभाव हमें लाभप्रद एवं लुभावने प्रतीत होते हैं, किन्तु ये धीरे-धीरे पूर्ण अहिंसा निष्ठ श्रमण–साधक के जीवन को दीमक की तरह खोखला कर देते हैं।

सिद्धान्त–प्रचार तो एक सामान्य सा बहाना मात्र है। वास्तव में इसके पीछे स्व-प्रतिष्ठा की बुभूक्षा ही काम करती है। प्रचार-प्रसार की आड़ में प्राय: अपनी तुच्छ नाम-लिप्सा एवं प्रसिद्धि की भूख को ही मिटाने का प्रयास होता परिलक्षित हो रहा है और अपनी इसी सामान्य सी क्षुधा-पूर्ति से लिए सिद्धान्तों की अवहेलना अथवा अवमानना एक सामान्य सी बात हो गई है।

निष्कर्ष की भाषा में हमने परिवर्तन की इस प्रक्रिया में सैद्धान्तिक एवं सांस्कृतिक स्वस्थ मूल्यों को नजर अन्दाज कर दिया है, जो स्वस्थ समाज की रचना के उद्देश्य से कतई उचित नहीं है।

यह ठीक है कि युगानुकूल परिवर्तन किसी सीमा तक अपेक्षित होता है, किन्तु उसकी कोई निश्चित सैद्धान्तिक भूमिका अनिवार्य है। बिना भूमिका का परिवर्तन, ऊपर पतलून और नीचे शर्ट पहनने के समान भी हो सकता है। अतः किसी भी परिवर्तन के पूर्व उसके फलाफल पर भी चिन्तन अनिवार्य हो जाता है। जिसे हम बदलना चाहते हैं, वह परिवर्त्य भी है या नहीं ? यह चिन्तन भी आवश्यक है।

आज केवल एक माहोल सा बन गया है कि यदि युग के साथ हम नहीं बदले तो हम पिछड़ जाएंगे। किन्तु तथ्य इसके विपरीत हैं। युग के साथ अपनी मौलिकता को छोड़ देने वाला ही पिछड़ा है। हाँ, यदि हम अपनी साधना के उद्देश्य को ही बदल दें, तो विधेय को भी निश्चित बदलना होगा। क्योंकि उद्देश्य के अनुरूप ही विधेय होता है। यदि हमारा उद्देश्य मुक्ति–साधना से अलग हट कर लोकेषणा अथवा जनरंजन ही रह गया है, तो जो कुछ परिवर्तन हो रहा है, उसे उचित ठहराया जा सकता है, किन्तु जब हम उद्देश्य आत्म कल्याण का ही रखते हैं, तो ये परिवर्तन हमें अपने लक्ष्य से ही च्युत कर देंगे, अतः परिवर्तन की ओट में नवीनता का अन्धानुकरण किसी भी स्थिति में उपादेय नहीं माना जा सकता है।

**कांटा भांजी, बंगोमुन्डा, मूरिबाल, सिरूल,**
**टिटलागढ़, लूथरबन्ध, केसिंगा**
१३ से २६ मार्च

# चेतन शक्ति

धरती में दबा लघुतम बीज अंकुरित होता है। कपास के तन्तु सा कोमल अंकुर छिलके—आवरण को चीरकर बाहर आता है। मिट्टी की सघन पर्तों की तथा कठोरतम जड़ चट्टान के अवरोध की अवगणना ही नहीं, उसे ललकारता हुआ, उसे दो दरारों में विभक्त करता हुआ मुक्त पवन एवं खुले आकाश-प्रकाश का साक्षात्कार करता है।

सामर्थ्य की स्पर्धा में अंकुर उस जड़ चट्टान के समक्ष टिक नहीं सकता। किन्तु जड़िमा के पास केवल सामर्थ्य है, उसकी अपनी नपी-तुली सीमाबद्ध शक्ति होती है। अंकुर में जीवन—चेतना है। उसके पास अपना अपरिमेय शक्ति-स्रोत है। जीवन्त चेतना के समक्ष जड़ता की सामर्थ्य परास्त हो जाती है।

जड़ता में जिजीविषा, विकास,आलोक एवं सौन्दर्य का आग्रह नहीं होता है। बोधप्रक्रिया नहीं होती है। इसके विपरित चेतना में विकास प्रकाश, सौन्दर्य एवं विराटता का आग्रह होता है। अंकुर चाहे वह सुकुमार-कोमल ही क्यों न हो, अपनी जिजीविषा के निश्चय में जड़ता की चट्टान को ललकारता है, जड़िमा की सामर्थ्य को परास्त करता है, तोड़ता है और धरती को फोड़कर मुक्त आकाश एवं मुक्त पवन में लहलहाने लगता है।

चेतना की जिजीविषा एवं आलोकमुखी अभीप्सा के समक्ष जड़िमा का सामर्थ्य निश्चित परास्त होता है, क्योंकि जड़ता विनश्वर है, जीवन शाश्वत।

आधुनिक विज्ञान ने जड़ शक्ति के अपरिमेय स्त्रोत खोले हैं, परमाणु एवं लेसर किरणों की उपयोगिता से आज संसार परिचित है, चाहे वह विनाश के लिये हो अथवा निर्माण के लिये। जड़िमा में इतनी सामर्थ्य, इतनी शक्ति है, किन्तु इसका नियन्ता कौन ? यह एक सहज किन्तु ज्वलन्त प्रश्न है। जड़ता की सामर्थ्य—सत्ता अनुपयोगी ही सिद्ध

होगी, यदि उसमें चेतना का नियन्त्रण न हो। संसार की प्रत्येक शक्ति का केन्द्र चेतना ही होगी और नियन्त्रित शक्ति का ही सही दिशा में उपयोग हो सकता है।

आज आम मानस पर भौतिक जड़ शक्ति का प्रभाव है, किन्तु यह वस्तु के ऊपरी सतह का ही दृष्टिकोण है। वस्तु के भीतरी तत्व का आन्तरिक दृष्टि से अवलोकन करने पर भ्रम की दीवार टूट जाती है।

निश्चित, परमाणु में शक्ति है, किन्तु चेतना के नियन्त्रण के अभाव में उस शक्ति का कार्य विनाशलीला ही होगा। आज अणु एवं उद्जन विस्फोटकों में सहज आग लग जाए तो क्या स्थिति बनेगी संसार की ? हिरोशिमा और नागासाकी की वे झुलसती ज्वालाएं सारे संसार को लील सकती है, और आज का वैज्ञानिक इन आशंकाओं से संत्रस्त भी है।

अत: हमें अपने दृष्टिकोण को बदलकर चेतन शक्ति को सर्वोपरि स्थान देना होगा। लघुतम बीज की विराटता को स्वीकारना होगा और उसके विकास की अभीप्सा में जड़ता के व्यवधान के पराभव का अहसास भी करना होगा।

**केसिंगा**

२७ से ३० मार्च

# देवासुर संग्राम !

देवासुर संग्राम का पौराणिक आख्यान वास्तव में जीवन-दर्शन की प्रतिकात्मकता को ही अभिव्यक्ति है। यह संग्राम आंतरिक संघर्ष है, जो चिरन्तन काल से चलता चला आ रहा है। चित्त की दो दशाओं का ही चित्रण इस संग्राम के माध्यम से किया गया है। हमारे अन्दर दैवी वृत्ति भी कार्य करती है और आसुरी वृत्ति भी। दोनों का संघर्ष भी प्रायः निरन्तर होता रहता है। कभी दैवी वृत्ति विजयी हो जाती है, तो कभी आसुरी। परिवर्तन क्रम से एक दूसरी पर अपना अधिकार वर्चस्व स्थापित करती रहती है। किन्तु इस रूपक से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि अन्तिम एवं परिपूर्ण विजय दैवी शक्ति की ही होती है।

**केसिगा**

३१ मार्च

# सिद्धान्त चर्चा !

हिंसा-अहिंसा, नैतिकता-अनैतिकता, सदाचार-कदाचार के सिद्धान्तों के ढोल बहुत पीटे जा रहे हैं, किन्तु वे सिद्धान्त केवल अकर्मण्य आदर्श मात्र बनकर रह जाते हैं। विकृति के इस युग में संस्कृति की चर्चा 'षंड प्रति कामिन्या रूप वर्णनं' का आदर्श मात्र बन गई है। सिद्धान्तों की दुहाई देने वालों के अन्दर झांक कर देखा जाय तो मानस विडम्बना और कुण्ठा से भर जायेगा।

अन्यान्य क्षेत्रों की तो बात दर किनार, धार्मिक किंवा आध्यात्मिक क्षेत्र भी आज विकार ग्रस्त हो गया है। परिवेश आवरण की ओट में ठगना जितना सहज है, उससे अधिक हो गया है सिद्धान्त की ओट में ठगना। पवित्र सिद्धान्त का दुर्भेद्य कवच दूषित विचारों का संरक्षक बन कर रह गया है। इसी दृष्टि से आदर्शवादिता आज विनोद की वस्तु मानी जाने लगी है।

**केसिंगा**

४ अप्रेल

# आभिनिवेशिक दृष्टि

तथ्यपूर्ण सत्य का बोध कर लेने पर भी एकान्त दृष्टिकोण होने से आभिनिवेशिक दृष्टि सत्य को स्वीकारने में कुछ कतराती है। आग्रह-मताग्रह जिसे मतान्धता कह सकते हैं, व्यक्ति को सत्य के द्वार तक पहुंचने नहीं देता, कदाचित् पहुंच जाए तो द्वार उद्घाटित नहीं करने देता है।

यह कदाग्रही आग्रह ही आध्यात्मिक विकास के लिए अर्गला बन गया है। अभिनिवेश के कारण सत्य को जितना भी झुठलाएं, वह अपने मौलिक रूप में एक दिन अवश्य अभिव्यक्त होता है, क्योंकि सत्य शाश्वत है और अभिनिवेश अशाश्वत।

**टिटलागढ़**

५ अप्रेल

# अन्धानुकरण

परम्परा की लीक का अनुशरण किंवा अनुकरण कभी-कभी किसी अन्धे व्यक्ति के अनुकरण के समान महान् उपहास्यास्पद सिद्ध हो जाता है। नैत्रहीन व्यक्ति का पदानुसरण कभो संयोगवश गन्तव्य तक पहुंचा भी सकता है, किन्तु उस अनुसरण में भटकाव की ही अधिक सम्भावना रहेगी। ठीक वही दशा अपने ज्ञान-नैत्रों को बन्द करके परम्परा की लीक पर चलने वाले व्यक्ति की होगी।

आज का आम इन्सान गतानुगतिकता के दौर से गुजर रहा है। सामाजिक, पारिवारिक, शैक्षणिक आदि क्षेत्रों में ही नहीं, जीवन के उद्देश्यों एवं अपनी आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के पथ में भी उसकी यही दशा है। धर्म के क्षेत्र में भी कई स्थलों पर ऐसी ही गतानुगतिकता देखी जाती है।

अनुकरण की परम्परा पीढ़ी-दर पीढ़ी चलती है। सामाजिक परिवेश के मानदण्ड बदल जाते हैं, किन्तु कई क्षेत्रों में गतानुगतिकता की लीक नहीं बदल पाती है।

यह सत्य है कि लीक को बदलने के लिए क्रान्ति करनी पड़ती है और क्रान्ति के लिए आत्मोत्सर्ग (बलिदान) भी करना पड़ता है। लीक छोड़कर स्वतन्त्रचेता स्व-निर्माता का आदर्श मार्ग ही उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है, किन्तु साथ में यह भी उतना ही सत्य है कि लीक का उलंघन ज्ञान के प्रकाश में और विवेक के चक्षुओं के आधार पर ही होना चाहिए। जिस प्रकार लीक का अन्धानुकरण हानिप्रद है, उसी प्रकार लीक का अन्ध परिवर्तन भी सत्य-तथ्य से भटकाकर विपत्तियों के दल दल में फँसा सकता है। अस्तु, प्रत्येक स्थिति में ज्ञान-ज्योति एवं विवेक-दीपक आवश्यक है।

घिसटती हुई जिन्दगी की लीक छोड़ना चुनौती और जोखिम का कार्य है। यह केवल आत्म-विकास का ही मार्ग नहीं है। यह क्रांति है

और क्रांति की पहली शर्त है–आत्मोत्सर्ग अथवा बलिदान। जीवन को तो खपजाना है–धुन्ध में खपे अथवा प्रकाश में, नकल में खप जाये या निर्माण में। किन्तु आत्मोत्सर्ग जीवन का सर्वोच्च मूल्य है और सर्वोच्च मूल्य के लिए दीप्त विवेक की आवश्यकता होती है। धुंधुआती जिन्दगी की दयनीयता शोचनीय है, किन्तु आत्मोत्सर्ग की व्यर्थता बड़ी कचोटने वाली बात है। जीवन की सार्थकता की दृष्टि से अन्धानुकरण व्यर्थता का एक पहलू है और अन्धी छलांग दूसरा पहलू। अस्तु, प्रत्येक स्थिति में ज्ञान-ज्योति एवं विवेक-दीपक आवश्यक है।

**बंगोमुण्डा**

६, ७, ८ व ९ अप्रेल

# आघात-प्रत्याघात और साधना

साधनामय जीवन में भी परस्पर विरोधी टकरावों के आघात विचित्र मनः स्थिति को उत्पन्न कर देते हैं। वैसे तो सम्पूर्ण जीवन ही आघात प्रत्याघातों के तानों-बानों से बुना हुआ है। जहाँ जीवन है, आघात प्रत्याघातों का संघर्ष अनिवार्य है। किन्तु जब जीवन अपनी पूर्णता की ओर गतिशील होता है, तो आघात-प्रत्याघात उसके लिए अकिंचित् कर हो जाते हैं। आघात-प्रत्याघातों का प्रभाव जिजीविषा की तीव्र भावनाओं के दौर में होता है, और जब साधनोंन्मुख चेतना जिजीविषा की कल्पना से ऊपर उठ जाती है, तो बाहर के टकराव उसके लिये अप्रभावी हो जाते हैं। बाह्योन्मुखी चेतना ही आघातों-प्रत्याघातों के प्रति अधिक संवेदनशील होती है।

चूंकि वर्तमान स्थिति में बाहरी टकरावों का प्रभाव सर्वत्र छाया हुआ है, अतः दिवालोक की तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि साधना की गहराई को आत्मा परिपूर्ण रूप से छू नहीं पाई है ?

साधनागत मानस तो इतना निर्विरोध एवं टकराव शून्य होना चाहिये कि उसमें आघात-प्रत्याघातों की एक तरंग भी न उठने पाए और कदाचित् उठ भी जाए, तो उसका संवेदन न होने पाए और वह तरंग अस्तित्व-शून्य हो जाए। जब तक एक छोटी-सी तरंग भी मनः सागर की गम्भीरता को आन्दोलित कर दे रही है, तब तक किस आधार पर कहा जाय कि साधना में पैठ अथवा अभीष्ट प्रगति हुई है। विरोधी टकरावों एवं आघात-प्रत्याघात के तूफानों में आन्दोलित नहीं होना ही तो साधना का उत्स है।

**बंगोमुण्डा, कांटा बांजी**
१० व ११ अप्रेल

# परिभाषा-जड़ चेतन की

चेतन और जड़ की बहुत परिभाषाएं की गई है। किन्तु यदि इनकी वस्तुनिष्ठ व्याख्या करना चाहें तो वह होगी–गतिशीलता एवं जड़ता। चेतना एवं जीवन तभी तक उस शब्द के अधिकारी हैं, जब तक कि उनमें गतिशीलता है। जहाँ केवल ठहराव ही रह जाता है। गति-क्रिया समाप्त हो जाती है, वहाँ जड़ शब्द सार्थक होता है। गतिशीलता में ही उतार–चढ़ाव, उत्थान–पतन एवं ह्रास–विकास की सम्भावनाएं रहती है। उत्थान की पराकाष्ठा (चरम परिणति) को चूमने का श्रेय गति को ही है।

अतः जो जीवन ठहर गया है, जिसमें गति नहीं है, वह जीवन जीवन नहीं है, वह जड़ताभिमुख चेतना है, जो अपने स्वरूप को विस्मृत कर चुकी है।

आत्म-साक्षात् कर्ता एवं तत्व दर्शियों की यह ध्रुव मान्यता है कि निकृष्टतम योनि में रहने वाली प्रगाढ़ आवरणलीन निगोदीय चेतना में भी विकास की वे सभी सम्भावनाएँ हैं, जो सजगचेता एक इन्सान में है। चूंकि गतिशीलता दोनों में विद्यमान है, अतः विकास–शीलता भी दोनों का सहज गुण है। अपने-अपने विकास के प्रतिमानों में अवश्य भिन्नता हो सकती है, किन्तु विकास की संभावनाओं से इन्कार नहीं किया जा सकता है। गति-क्रिया जहाँ भी होगी, परिवर्तन अनिवार्य होगा और परिवर्तन में विकास या ह्रास अवश्यम्भावी होगा। ये सब चेतना के सहज गुण हैं। वैसे जड़त्व में भी प्रतिक्षण परिवर्तन होता है। क्योंकि वह वस्तु का स्वभाव है। किन्तु सहज स्वीकृत विकास शीलता जड़त्व में नहीं पाई जाती है। चेतन अपने विकास में स्वतन्त्र है, जबकि जड़ विकासशील नहीं होता है। उसका विकास पर-सापेक्ष होता है और ह्रास समय सापेक्ष।

**कांटा बाजी, बेल पाड़ा**
१२ व १३ अप्रेल

# अन्तरंग आवाज

अंतरंग चेतना की संख्यातीत बुलन्द आवाजों के बावजूद भी बाह्यानुगामी मन आकर्षणों की ललक में उलझ ही जाता है। वे आवाजें कुछ समय तक अवश्य अपना प्रभाव दिखाती है, किन्तु अन्त में चंचल मन के समक्ष वे घुटने टेक देती है। मन की इस विचित्र दुःसाहसिकता के कारण ही तो अनेकानेक मनः साधकों एवं ध्यान साधकों को पथच्युत होना पड़ता है। साधना की भूमिका है, मन की निरंकुशता को सम्यग् रूप से नियन्त्रित करना। "मनो विजेता जगतो विजेता" की सूक्ति अत्यन्त सशक्त एवं सार्थक है, किन्तु वह केवल साधना की भूमिका का ही कार्य कर पाएगी। मन से ऊपर भी कुछ साध्य है, जहां प्रारम्भिक भूमिका के साथ साधक को पहुंचना होता है, और वह साध्य है, आत्म विजय-चेतना के स्वर को सुनना और स्वयं का साक्षात्कार कर लेना।

स्वयं का साक्षात्कार केवल शब्द-साध्य नहीं है, जैसी कि आम-धारणा बन गई है। दुनियावी तत्वों की पहचान में संलग्न बुद्धि इतनी आत्म विस्मृत हो चुकी है कि उसका स्व-स्मृति के प्रति सजग होना अत्यन्त कठिन हो गया है। बाह्य परिवेश में खोई हुई प्रज्ञा अपने केन्द्र से भटक चुकी है, इतनी अधिक भटक चुकी है कि उसका अपना निजत्व का बोध पूर्ण आवृत हो गया है।

जैसे एक अबोध बालक घर का रास्ता भूलकर गलियों में दौड़ता फिरता है अथवा एक शराबी नशे में प्रमत्त होकर गृह-केन्द्र से भटक जाता है, उसे अपने घर की पहचान खो जाती है। ठीक यही दशा अज्ञान एवं मोह के सघन पर्दों से आवृत चेतना की है। वह अपने केन्द्र से भटकी ही नहीं, उसे पूर्ण विस्मृत भी कर चुकी है। इससे बढ़कर प्रमत्तता अथवा पागलपन और क्या हो सकता है?

**बेलपाड़ा, घाघरली, हरिशंकर रोड़**

१४, १५ व १६ अप्रेल

# मौन

जीवन की सम्पूर्णता उसकी मुखरता में नहीं, मौन में है। मुखरता साधना के अधूरेपन को सूचक है। साधक जब साधना की ऊँचाइयों का स्पर्श करता है तो सहज मौन फलित होता है। "अर्घोघटो घोष मुपैति-नूनम्" की लोकोक्ति इसी तथ्य को स्पष्ट करती है। वाचालता रिक्तता में ही अधिक होती है। अतः साधना की परिपूर्णता तक पहुँचने के लिये मौन सर्वोत्कृष्ट साधन है, और वही एक दिन साध्य के रूप में भी बदल जाता है।

किन्तु मौन का अर्थ केवल वाणी-संयम ही नहीं है। वाणी संयम भी मौन का एक प्रकार है, किन्तु वास्तविक मौन मनः संयम है। जहां विचार विशुद्धता की ओर गतिशील होते हैं तथा वैभाविक विचार-शून्यता की उपलब्धि होती है। वास्तव में मौन से बढ़कर साधना का कोई दूसरा अंग इतना सशक्त नहीं है।

"मौन समुद्र के समान गम्भीर है" यह एक तथ्यपूर्ण वाक्य है। समुद्र की गम्भीरता विदित है। कितनी ही तूफानी हवाएं चले, समुद्र की ऊपरी सतह अवश्य आन्दोलित होती है, किन्तु उसकी आन्तरिक गम्भीरता में कभी क्षोभ उत्पन्न नहीं होता। हाँ, उसके आन्तरिक संघर्ष के फलस्वरूप यदा कदा ज्वारभाटा एवं बड़वानल अवश्य उठते हैं। किन्तु वे उसकी शक्ति के ही रूप हैं। ठीक यही स्थिति मौन की है। मौन की अपरिमेय शक्ति एवं गम्भीर स्थिति भी समुद्र से कम नहीं है। मौन जब अपनी पराकाष्ठा पर होता है तो उसमें भी ज्वारभाटा एवं बड़वानल जैसे अनेक शक्ति स्रोत फूट पड़ते हैं। किन्तु वे शक्ति-स्रोत जीवन निर्माणकारी ही होते हैं, विनाशकारी नहीं।

पूर्ण मौन की उपलब्धि जब भी बन पाती है, चेतना अपनी सम्पूर्णता में लीन अथवा लय हो जाती है। अतएव सम्पूर्णता की इयत्ता को जैसे नहीं नापा जा सकता है, वैसे ही मौन शक्ति की इयत्ता को नहीं पाया जा सकता है।

**लखना, नवापारा**

१७, १८ अप्रेल

## प्रशंसकों की भीड़ में साधक

जिस परिवेश एवं पर्यावरण के दौर से हम गुजर रहे हैं, उसे साधना के अनुकूल तो नहीं माना जा सकता। साधना का सीधा अर्थ है, विस्तार से सिमटकर स्व में केन्द्रित प्रतिष्ठित होना। जबकि आज हम विस्तार की ही दौड़ में सम्मिलित होते जा रहे हैं। एकान्त विजन साधनानुकूल स्थल हमें पसन्द नहीं, हमें कोलाहल भरा वातावरण चाहिए। अधिक से अधिक जन सम्पर्क मन को खुश करता है। जन-जन के मुख से अपनी प्रशंसा सुनने को चित्त आतुर रहता है। अपने इर्द-गिर्द प्रशंसकों की भीड़ इकठ्ठी कर लेना ही आज साधकों का कार्य क्षेत्र रह गया है। किन्तु यह दिवालोक की तरह स्पष्ट है कि ये सब प्रवृत्तियां साधना से भटकाने वाली है। साधना से प्रतिकूल वातावरण का निर्माण कर साधना का आनन्द प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

खरियार रोड़
१९ अप्रेल

## साधना का अवरोधक परिचय विस्तार

प्रारम्भ में जन सम्पर्क आनन्दप्रद एवं मोहक भासित होता है। परिचय विस्तार के लिये मन लालायित रहता है। किंतु जब परिचय अत्यन्त बढ़ जाता है, तो लगता है यह चंचल मन की एक भावुक पुकार थी। अपने भटकने के मार्ग खोजने का प्रयास था। चेतना जितनी ज्ञान-गरिमा की ओर अग्रसर होती है, लगता है उसकी पूर्व की सभी प्रवृत्तियां क्षुद्रवृत्ति से नियोजित थी। उन्हीं क्षुद्र वृत्तियों में परिचय विस्तार की भावना भी है। साधक ज्यों-ज्यों साधना की गहराई में उतरता है। पूर्व में किया जन सम्पर्क अथवा परिचय विस्तार उसे खलने लगता है। क्योंकि साधना के क्षेत्र में वह परिचय विस्तार अनेकानेक व्यवधान उपस्थित करता है। प्रारम्भ में जिसे आनन्दप्रद, सुखावह एवं सहयोगी माना था, वही आगे चलकर कष्टप्रद एवं खलने वाला बन जाता हैं। अतः यह निजी अनुभव है कि साधक को प्रारम्भ से ही परिचय विस्तार से बचना चाहिये।

खरियार रोड़

२० अप्रेल

## जयन्ती या उपहास ?

कितना ही बुद्धिनिष्ठ व्यक्ति क्यों न हो, हठाग्रही वृत्ति के समक्ष सैद्धान्तिक, मौलिक धार्मिक मान्यताएँ कोई महत्व नहीं रखती हैं। आग्रह एवं हठाग्रह का भूत जिस क्षण मस्तिष्क पर सवार होता है,अपने हिताहित का विवेक भी खो जाता है। जयन्तियों के प्रसंग पर जिन महत्तम चेतनाओं का स्मरण करते हैं, उनके आदर्शों एवं सिद्धान्तों का शतांश भी अनुशीलन नहीं कर पाते हैं। उल्टे अपनी शुद्ध मनोवृत्ति के संकुचित दायरे में उस महान चेतना को भी बांध लेने का हास्यास्पद एवं तुच्छ प्रयास ही किया जाता है। अनन्त द्रष्टा प्रभु महावीर की जन्म जयंती का माहौल भी कुछ ऐसा ही परिलक्षित हो रहा है। चिन्तन कुछ गहराई में जाता है तो लगता है, आज महावीर की जयन्ती नहीं, उनकी सैद्धान्तिक हत्या का ही अधिक प्रयास हो रहा है।

ऐसे प्रसंगों पर भी अपने तुच्छ स्वार्थों एवं अन्ध मान्यताओं के जाल में कितने जघन्य स्तर पर इन्सान उतर जाता है और साम्प्रदायिकता से कुण्ठित धारणा एवं अंधानुकरण की परम्परा के निर्वाह में कितने बड़े विघटन एवं विषमता के बीज बो देता है,इसका यहां प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो रहा है।

**खरियार रोड़**

२१ व २२ अप्रेल

## खतरनाक आस्था

आज ईश्वर एवं अध्यात्म के प्रति जितनी उथली आस्था है,वह शायद अनास्था से भी अधिक खतरनाक है। क्यों कि उथली आस्था हजारों को अनास्थावान बनाने का कार्य अनायास ही कर रही है। आस्था की आड़ में किये जाने वाले कृत्य ठीक विपरीत होते हैं और छिछली आस्था की पोल खोलते रहते हैं।

**खरियार रोड़**

२३ अप्रेल

# आत्म प्रवञ्चना

दूसरों को छलने की ओट में हम अपने आपको सबसे अधिक छलते आ रहे हैं। क्योंकि जितना भी किसी को छलने का प्रयास किया, हम अपने आपको उससे विपरीत समझते रहे, जबकि हम छलना के क्षणों में अत्यन्त निम्न कोटि पर उतर आते हैं। इससे बढ़कर आत्म-प्रवंचना क्या हो सकती है कि हम हमेशा झूठे आवरणों से अपने को ढकते रहे, दुर्भेद्य समझकर असत्य के कवच को अपना सुरक्षा-प्रावरण मान लिया। किसी दूसरे की कमजोरियों का लाभ उठाते समय हम यह भूल जाते हैं कि यह प्रवृत्ति सम्मुखस्थ को छलने की नहीं, खुद को छलकर आत्म-पुकार पर कुठाराघात करने जैसी है। जब तक स्व पर का भेद है, स्व-प्रवंचना से हम बच नहीं सकते।

**खरियार रोड़**

२६ अप्रेल

# अनुभूति शून्य ज्ञान एक भार

अनुभूति शून्य ज्ञान निश्चित ही भार रूप होता है क्योंकि आनन्द की सृजना में उसकी कोई उपादेयता नहीं होती है। अनुभूतिगत बोध चाहे वह स्वल्प भी हो, आनन्दप्रद होता है। आज के ज्ञान की जटिलताएँ मानस-मस्तिष्क को इतना बोझिल कर देती है कि वह ज्ञान, अज्ञान से भी अधिक भयंकर होता जा रहा है। ज्ञान तभी ज्ञान कोटि में आ सकता है, जबकि वह अनुभूति के आलोक से उद्भासित हो और आनन्द की सर्जना के द्वारा अपने अस्तित्व को प्रमाणित करता हो। अन्यथा वह ज्ञान अपने अज्ञान को ढकने का एक आवरण मात्र है। आज के परिवेश में यह आवरण भी इतना सघन होता जा रहा है कि मौलिक ज्ञान की चिन्तना शक्ति पूर्णतया आच्छादित होती जा रही है।

इसी सन्दर्भ में कई बार मस्तिष्क में एक प्रश्न उभरा करता है कि "वार्तमानिक ज्ञान प्राप्ति की अदम्य अभीप्सा क्या सचमुच आत्मबोध के द्वार उद्घाटित कर पाएगी ? जिस शब्दाडम्बर के वातावरण से मानस गुजर रहा है, पण्डिताई के ढोल पीट रहा है,क्या यह आत्म-तुष्टि के लिए पर्याप्त है ? क्या इनसे किंचित् मात्र भी आनन्द-शांति की किरण मिल सकेगी ?

यदि नहीं, तो उसके प्रति इतनी ललकपूर्ण चेष्टा क्यों की जा रही है ? और इस प्रकार हम ज्ञान उपलब्धि की आकांक्षा में अशान्ति की ओर ही नहीं बढ़ रहे हैं ? इस तथाकथित ज्ञान के माध्यम से अपने मौलिक बोध-आत्मज्ञान को ढकने का ही प्रयास नहीं कर रहे हैं ? आज का चिन्तन पुकार रहा है कि शाब्दिक ज्ञान के बोझ से कुछ हल्के होकर अनुभूति का आलोक अपेक्षित है।

**खरियार रोड़**

२४ व २५ अप्रेल

# स्व प्रतारणा

अपने को प्रतारित करने के लिए भी न मालूम कितने रास्ते बन गये हैं अथवा दूसरों को ठगने के बहाने इन्सान ने खुद को ही ठगने के अगणित तरीके ईजाद कर लिये हैं। इन्सान येन-केन प्रकारेण अपनी कमजोरियों पर आवरण डालने का प्रयास करता है, जो स्व-प्रतारणा का ही एक तरीका है। अज्ञात में ही हम अपने आपको धोखा देते रहते हैं, जिसका चिर अभ्यस्त होने के कारण हमें सामान्य आभास भी नहीं होने पाता है। हम यह सोचकर मन को सन्तुष्ट करने का प्रयास करते हैं 'मेरा ऊपरी रूप तो जन प्रतीति का ही विषय है, आंतरिक बुराइयों एवं कमजोरियों को कौन देख सकता है?' किन्तु यह भी गहराई में अपने आपको छलना ही है। हमारा बाहरी रूप जितना आकर्षक है और उसमें जो आकर्षकता छलकती है, वह अज्ञात रूप से आंतरिकता को भी अभिव्यक्त कर देती है। पैनी दृष्टि को यह समझने में किंचित् भी समय नहीं लगता है कि यह ऊपर का परिवेश अपने भीतर में क्या छिपाए हुए है। अतः अपनी कमजोरियों को छिपाने की स्व-प्रतारणा से बचना ही श्रेयष्कर है।

**कोमाखान**
२७ अप्रेल

# नैतिक मूल्यों की आस्था

नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों के प्रति भावात्मक श्रद्धा प्रायः प्रत्येक व्यक्ति में पाई जाती है। मानव चाहे वह निम्न स्तरीय वृत्ति में ही क्यों न जी रहा हो, नैतिक मूल्यों के प्रति उसके अन्तःकरण में भी सहज आदर का भाव होता है, अतएव अनैतिक आचरण की ओर कदम बढ़ाते समय वह झिझकता है तथा आवेशग्रस्त मानस के कारण वैसा हो जाने पर पश्चाताप भी करता है।

कुछ ऐसे अज्ञात संस्कार मानव समाज में जीने वाले व्यक्ति पर अंकित रहते हैं जो सहसा सामाजिक मूल्यों को चोट पहुंचाने वाली प्रवृत्ति में उसे अग्रसर नहीं होने देते हैं। अतः किसी दृष्टि से सामाजिक नैतिक मूल्यों का भी अत्यन्त महत्व सिद्ध होता है।

यह सत्य है कि सामाजिक-नैतिक मूल्यों का आज अत्यधिक अवमूल्यन होता जा रहा है। युवा वर्ग में उसके प्रति आस्था क्षीण होती जा रही है। किन्तु चिन्तन इस बात का भी साक्षी है कि परिवेश परिवर्तन के साथ कुछ सामाजिक अवस्थाएँ भी बदली हैं, अतः जो आज अवमूल्यन दिखाई दे रहा है यह तथाकथित मूल्यों का ही है। युगीन मूल्यों के प्रति युवा मानस उतना ही श्रद्धान्वित है, जितना बुजुर्ग वर्ग अपने समय के मूल्यों के प्रति था/है।

नैतिक मूल्यों में होने वाले परिवर्तन को ही उनका अवमूल्यन मान लेना भयंकर भूल होगी। हां कुछ नैतिक मूल्य त्रिकाल अबाधित अपरिवर्त्य होते हैं, उनके प्रति अनास्था होना, अवमूल्यन कहा जा सकता है।

**बाघ वाहरा, भीमखोज**

२८, २६ व ३० अप्रेल

●

# दौलायमान आस्था

लम्बे-चौड़े प्रवचन एवं विस्तृत सैद्धान्तिक चर्चा-विचर्चा के बावजूद भी स्वयंवादी की बुद्धि भी आस्था-अनास्था के झूले में दौलायमान क्यों रहती है ? कई बार लगता है, ये सारे प्रवचन एवं वाद-विवाद बौद्धिक विलास मात्र हैं। क्योंकि जब स्व-आस्था भी उस पर केन्द्रित नहीं है, तो उस प्रवचन की क्या उपयोगिता अथवा उपादेयता हो सकती है ?

आस्था-अनास्था के झूले में झूलती बुद्धि निश्चित साधना के मार्ग में भी गत्यावरोध उत्पन्न कर देती है। जब तक आस्था ही उद्देश्य के प्रति स्थिर नहीं होगी, साधना में गतिशीलता कैसे आ सकती है ? चिन्तनीय है कि आस्था के स्थिरीकरण की साधना आराधना, पूर्व भूमिका के रूप में नितान्त आवश्यक है।

न जाने भौतिक अनुसन्धानों एवं विनश्वर तत्वों पर जमी हुई आस्था क्यों नहीं डगमगाती है ? क्यों नहीं आध्यात्मिक अनुभूति-मूलक तथ्यों पर, मानव की आस्था स्थिर हो पाती है ? कितने ही क्षण जीवन में ऐसे आते हैं, जब अध्यात्म की गहरी अनुभूति मस्तिष्क को झकझोर देती है, किन्तु वे बहुमूल्य क्षण अपना स्थायी प्रभाव अंकित नहीं कर पाते हैं।

प्रभु महावीर ने आस्था के संदर्भ में जो कहा—"सद्दा परम दुल्लहा' मर्म स्पर्शी सूक्त है। दुनिया के अन्यान्य तत्वों की उपलब्धि और उन पर आस्था सहज बन जाती है, किन्तु अपनी अध्यात्म शक्तियों पर जो स्वयं में छिपी है, श्रद्धा केन्द्रित नहीं हो पाती है। श्रद्धा—आस्था के अंकुरण के बिना साधना के फलवान होने की कामना स्वप्न मात्र ही हो सकती है।

**मामा भांचा, महासमुन्द**

१ व २ मई

# आत्म प्रशंसा की ललक

अपनी तथा अपनों की प्रशंसा भरी वार्ता चाहे वह एकदम असत्य ही क्यों न हो, इतनी मधुर लगती है कि इन्सान उसमें घण्टों गुजार देता है तथा अपनी सामर्थ्य एवं महत्ता की इयत्ता को ही भूल जाता है और उसके अन्दर अहंकार की अभिवृद्धि होने लगती है। मानव मन की यह सबसे बड़ी कमजोरी है कि वह अपनी प्रशंसात्मक वाणी सुनने को प्रति-क्षण तत्पर रहता है, इसके विपरीत यदि कोई अपनी वास्तविक त्रुटियों की ओर भी इंगित कर रहा है, चाहे वह परिष्कार की भावना से ही क्यों न हो, मन सुनने को तैयार नहीं होगा। प्रत्यक्ष में नहीं तो परोक्ष में ही, वह परिष्कारक के प्रति भी अवमान एवं हीन भावना से भर जाता है।

वास्तव में स्व-प्रशंसा, कथन एवं श्रवण की दृष्टि से एक ऐसा घुन का कीड़ा है, जो निरन्तर व्यक्ति के विकास की सीढ़ियों को कुरेदता रहता है, ताकि प्रगति की सीढ़ी पर पैर धरते ही वह सीढ़ी सहित धरा-शायी हो जाए।

स्व प्रशंसा की चर्चा में मस्त व्यक्ति-मानस अपनी सामान्य-सी उपलब्धियों पर ही इतना सन्तुष्ट हो जाता है कि उसके आगे के विकास-द्वार ही अवरूद्ध हो जाते हैं। परिणामतः वह प्रगति के अगले किसी सोपान का स्पर्श ही नहीं कर पाता है।

निरन्तर विकासमान प्रगति के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि हम स्व-प्रशंसा के इस क्षय रोग से अपने आपको बचाए रखें तथा अपने प्रशंसकों के प्रति उपेक्षा एवं त्रुटियों के प्रति सचेत करने वालों के प्रति समादर-सौजन्य का भाव उत्पन्न करें।

**महासमुन्द**
३ व ४ मई

# साधक वही, जो अकम्पमान हो

दैनिक जीवन में ऐसी अगणित घटनाएँ घटित होती है, जो जीवन को आन्दोलित कर देती है। किन्तु उनमें से कुछ ही घटनाएँ ऐसी होती हैं जो अपना प्रभाव अंकित कर पाती है। आम पर आने वाली सभी मंजरियाँ फलवती नहीं होती है। साधना के पथ पर चलने वाले सभी साधक साध्य तक नहीं पहुँच पाते हैं। साधना के लिये चुने गये सभी क्षण साध्य में नहीं बदलते। साधना का चरम क्षण ही साध्य की उच्च भूमिका का स्पर्श कर पाता है। किन्तु यह भी सत्य है कि साधना में बढ़ने वाला प्रत्येक क्षण लक्ष्य-सिद्धि में सहयोगी होता है। इसी दृष्टि से हर क्षण का अपना महत्व होता है किन्तु कुछ क्षण अपना महत्व इसलिये स्थापित कर लेते हैं कि वे जीवन की सर्वतोमुखी प्रगति में सहयोगी बन जाते हैं।

तूफानी हवाओं एवं प्रचण्ड झंझावातों में भी जो मंजरियां अपनी पकड़ को नहीं छोड़ती है, वे ही फूल से फल में रूपान्तरित हो पाती है। ठीक इसी प्रकार से वैषयिक भौतिक प्रलोभनों के प्रचण्ड वेग में भी जो साधक अपनी साधना के पथ पर अकम्पमान चलता रहता है,वही साधक साध्य के द्वार तक पहुंच पाता है। इसी तथ्य को प्रभु महावीर ने "मेरूव्व वाएण अकम्पमाणो" के स्वरों में अभिव्यक्ति दी है।

चित्त की दोलायमान स्थिति साधक को भी अकम्प नहीं रहने देती है। बाह्य वातावरण के प्रभाव से उसका अन्तरंग भी प्रकम्पित हो उठता है, किन्तु यह भी सत्य है कि निरन्तर लक्ष्य की ओर गतिशीलता साधक को एक रोज अकम्प बना देती है। अतः तीव्र गत्यावरोधों के बावजूद भी यदि साधक अपने पथ को नहीं छोड़ता है, तो एक रोज प्रकम्प से अकम्प में प्रतिष्ठित हो सकता है।

**महासमुन्द**

५, ६ व ७ मई

# गतानुगतिकता

साधना का मार्ग प्रायः आज गतानुगतिकता का मार्ग भर बनकर रह गया है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही अज्ञान मूलक परम्पराओं का अन्धानुकरण साधना की मूल भित्ति बन गया है। यही कारण है कि साधना का सुमधुर रस, आह्लादकारी मार्ग कठोर, नीरस, दुःखप्रद लगने लगता है। साधना की भौतिकता एवं उसकी उपादेयता को जब तक हृदयंगम नहीं कर लिया जाय, साधना एक अनुकरण मात्र रह जाती है।

साधना तो अनुसन्धान का वह मार्ग है, जिसमें अनुभूति जन्य उपलब्धि के नित नूतन आयाम खुलते रहते हैं। फिर उसमें नीरसता का सवाल ही नहीं उठता है। किन्तु आज प्रायः साधना अनुसन्धान नहीं, अनुकरण अधिक बन गई है।

कई साधना–पथ प्रदाता अथवा मार्ग द्रष्टा भी, जो येन-केन प्रकारेण साधक को साधना की ओर मोड़ देते हैं, अपनी उस भूमिका का समुचित निर्वाह नहीं कर पाते। जिस मार्ग में साधक को दीक्षित किया गया है, आवश्यक है कि साधक को उस मार्ग में स्थिर रखने के लिये साधना-मार्ग के कुछ नये-नये आयामों को उद्घाटित किया जाए। किन्तु खेद है कि प्रायः मार्गद्रष्टा गुरू जिस परम्परा-पथ पर चले आते हैं, वही लकीर अपनी शिष्य परम्परा के लिये भी छोड़ देते हैं।

महासमुन्द
८ व ९ मई

# वासना के किटाणु-दबी हुई चिनगारी

वासना से अभिभूत मानस को अपनी अन्तरंग सत्यपूत आवाजों को भी कितना दबोचना पड़ता है, यह अनुभूति वासना के ज्वार के उतरने के पश्चात् ही होती है। सत्य पूरित अन्तरंग प्रेरणाएँ प्रत्येक अनात्म प्रवृत्ति का तीव्रतम निषेध ही नहीं करतीं, अपितु, इसके साथ तुमुल संघर्ष भी छेड़ देती हैं। यदि साधक आत्मपोषी साधनात्मक प्रवृत्तियों में किसी स्थिति तक आगे बढ़ चुका है तो इस संघर्ष में उसकी अर्थात् अन्तरंग प्रेरणा की ही विजय होती है, अन्यथा अनेक वार अन्तरंग आवाज को पराजय का मुख ही देखना पड़ता है।

वास्तव में दबी हुई आग की चिनगारी जब भी अनावृत होती है, अपना विकराल रूप दिखा ही देती है। हाँ, यदि सघन जल वर्षा से उसे बुझाया जा सके तो वह अकिंचित्कर ही होगी।

यह प्रश्न मानस-पटल पर असंख्य बार उभरता है कि अनन्त शक्ति पुंज चेतन वासना के आवेग में सहसा कायर एवं शक्तिहीन क्यों बन जाता है। तत्काल उसकी चिन्तना शक्ति कहां खो जाती है ? अपनी प्रतिष्ठा, ज्ञान-गरिमा एवं चारित्रिक क्षमता को वह क्षणभर में कैसे भूल जाता है ?

चिन्तन की कितनी ही गहराई में पहुंचें, प्रश्न सदा अनुत्तरित ही रहता है। केवल मोह कर्म का प्रभाव है, वासना की अनादि प्रवृत्ति है, चंचल मन की दौड़ है, आदि सामान्य से उत्तरों से भले ही मन को समाहित किया जाय, किन्तु गहराई में प्रश्न सदा अनुत्तरित ही रह जाता है। वासना के बीज अथवा कीटाणु कहां दबे पड़े रहते हैं और किस क्षण पवन, पानी, खाद आदि सामग्री पाते ही अंकुरित एवं प्रस्फुटित हो उठते हैं, यह पता लगाना साधारण मानव की बौद्धिक क्षमता के परे का विषय है।

**महासमुन्द, शेरगाँव**
१० व ११ मई

# सब कुछ उपयोगी

सृष्टि में ऐसे पदार्थों को खोज पाना कठिन ही नहीं, असम्भव होगा, जिनकी कोई उपयोगिता अथवा उपादेयता न हो। प्रत्येक पदार्थ, चाहे वह चेतनात्मक हो अथवा अचेतनात्मक, की उपयोगिता निश्चित है। चेतन जगत में एक चींटी भी अकर्मण्य व्यक्ति को कर्मशीलता का पाठ पढ़ाकर अपनी उपयोगिता सिद्ध कर देती है। सर्प जैसे जहरीले जन्तु भी वायुमण्डल में व्याप्त विषाक्त तत्वों को अपने में समाहित कर, वायु प्रदूषण रोककर अपनी उपयोगिता सिद्ध करते हैं।

जड़ पदार्थों में मणि-मुक्ता-स्वर्ण-रजत ही नहीं, मिट्टी पत्थर के लघुतम अंश अणु की उपयोगिता आज निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है। एक तृण भी दुग्ध जैसे मधुर एवं पौष्टिक पदार्थ के निर्माण में अपनी भूमिका अदा करता है।

पदार्थ स्वयं में अपनी अर्थवत्ता के बोध से शून्य होता है। उसकी उपयोगिता-अनुपयोगिता का आधार मानवीय चिन्तन ही है। जिन क्षणों में जो पदार्थ मानवीय आवश्यकताओं की अनिवार्यता की श्रेणी में आता है उन क्षणों में उसकी उपयोगिता बढ़ जाती है। जिन मिट्टी पत्थर के ढेलों को सामान्यतया अनुपयोगी समझकर उपेक्षा की जाती है, वे समय के परिप्रेक्ष्य में मूल्यवान् बन जाते हैं।

यही कारण है कि जापान में रद्दी अथवा कचरे जैसी कोई वस्तु उपलब्ध नहीं होती है। वहाँ प्रत्येक पदार्थ का वैज्ञानिक उपयोग होता है। फटे-पुराने कागज, प्लास्टिक आदि हर पदार्थ को रूपान्तरित कर उसे उपयोगी बना दिया जाता है। जिस मल-मूत्र को त्याज्य एवं अनुपयोगी समझा जा रहा था, गैस प्लान्ट के क्षेत्र में आज उन्हें बहुत महत्व की दृष्टि से देखा जाता है। अतः छोटा समझकर किसी की उपेक्षा हानिप्रद है।

**फिंगेश्वर, राजिम, नयापारा**

१२, १३ व १४ मई

# क्रोध का शल्य

क्रोध के आवेग से की गई छोटी-से-छोटी भूल एक शल्य के समान
ती है, जो जीवन पर्यन्त शालती रहती है। काँटे की चुभन क्षणिक
खद होती है। निकल जाने के पश्चात् उसकी चुभनजनित वेदना भी
ण भर में शान्त हो जाती है और उसे हम तुरन्त विस्मृति के गर्त में
ल देते हैं। किंतु भूल का शल्य इतना तीक्ष्ण एवं सशक्त होता है कि
क बार की चुभन जीवन भर वेदना-पीड़ा के महासागर में गोते लगाने
ा छोड़ देती है। उसमें भी कुछ महा-भूलें तो ऐसी होती हैं, जो अपने
छे अपने आपको दोहराने की अनिवार्यता स्थापित कर देती हैं। उन
हाभूलों के दल-दल में फंसा व्यक्ति भूल पर भूल दोहराता चला जाता
। यह उसकी अनिवार्य नियति ही वन जाती है। ऐसी महाभूलें
हाशल्यवत् पीड़ादायी होती हैं।

भूल-जन्य वेदना से मुक्ति भी तो सहज नहीं मिल पाती है। प्रथम
ी भूल को भूल मानने का विवेक ही जागृत नहीं होने पाता है।

इसके विपरीत हम अपने बौद्धिक–तार्किक आवरणों से उसे ढकते
हने का दुस्साहसिक प्रयास करते रहते हैं। कदाचित् चेतना के किसी
ोने में भूल को भूल मानने की अहसास पूर्ण अनुभूति होती है, तो
सकी जकड़ तब तक इतनी मजबूत हो जाती है कि चाहते हुए भी उस
ल्यवेदना से उपराम नहीं पाया जा सकता है। परिणाम स्वरूप
मूचा जीवन ग्लानि एवं पश्चाताप की ज्वलन्त ज्वाला से अनुतापित
ोता रहता है। हाँ, सम्पूर्ण जीवन गत आचार एवं विचार सम्बन्धी
क्रियाओं को परिवर्तित किया जा सके, तो वह अनुताप उपशान्ति को
प्राप्त हो सकता है। किन्तु यह वाक्य कथन में जितना सुगम है,
अनुशीलन में उतना ही कठिन है। अर्थात् केवल शब्दों से जीवन की
विचार सरणि को नहीं वदला जा सकता है।

**राजिम, नयापारा**

१५ व १६ मई

# जीवन-अबूझ पहेली

कभी-कभी लगता है—जीवन बड़ी गहरी एवं अबूझ पहेली है, जिसे शायद आज तक कोई बूझ नहीं पाया है। इस पहेली की जटिलताओं को हल करने का जितना ही प्रयास किया गया, लगता है, पहेली उतनी ही अधिक जटिल बनती चली गई है। ऋषी-महर्षि, मनीषी—महामनीषी, पण्डित-विद्वान् ही नहीं, आज के तथाकथित प्रत्यक्षवादी सृष्टि के गूढ़तम रहस्यों की थाह पाने का दावा करने वाले वैज्ञानिक भी इस पहेली के आगे पूर्णरूपेण नतमस्तक हैं।

जीवन को सम्पूर्ण रूप से जीए—समझे बिना इस पहेली को बूझ पाना असंभव है। सृष्टि में इने गिने ही कुछ वीतरागी महा मानव हुए हैं, जिन्होंने जीवन को पूर्णरूपेण आत्मसात् किया और उस पहेली को सुलझा लिया।

किन्तु पहेली की भावनात्मकता समझ लेने के बावजूद भी पर के प्रति उसकी अभिव्यंजना पूर्णरूपेण हो पाना उनके लिए भी कठिन ही रही है। क्यों कि जीवन की जटिलताओं को अनुभूति के आलोक में ही समझा जा सकता है, मात्र शब्द बद्ध अभिव्यंजना से नहीं। जिस व्यक्ति को भी यह पहेली बूझनी है, उसे अनुभूति के पथ से ही गुजरना होगा, तभी जीवन की सर्वांगीणता एवं सम्पूर्णताओं में प्रवेश पाया जा सकता है।

आज इस पहेली को बूझने का हमारा सम्पूर्ण प्रयास केवल शब्दाडम्बर में सिमटकर रह गया है। शब्दों की विस्तृत व्याख्या एवं चर्चाओं में ही पहेली का हल ढूँढा जा रहा है। और इसीलिये यह पहेली जटिल बनती चली जा रही है।

**राजिम, नयापारा**

१७ व १८ मई

## जीवन सागर - मन तरंग

मन: सागर में उठने वाली अगणित तरंगें चेतना की अगाध गम्भीरता को भी चंचल बना देती हैं। निरन्तर उठने वाली वे तरंगें चित्त की अस्थिरता को निरन्तर विवर्द्धित करती रहती है। साधारणतया उठने वाली उन तरंगों का कोई महत्व नहीं आंका जाता है, किन्तु कुछ तरंगें जो ज्वार-भाटा की तरह होती है, पूरे जीवन-सागर को आन्दोलित कर देती हैं। साधारण व्यक्ति के मानस पर हल्की-सी अहँकार की चोट लगती है अथवा अपमान का एक छोटा सा कंकर किसी ने फैंक दिया कि समूचा मन: सागर बड़वानल की तरह भड़क उठता है। इसके पश्चात् स्वत: ही हिताहित का विवेक खो जाता है। व्यक्ति उस एक तरंग के प्रभाव में इतना नीचे उतर आता है कि उसे जीवन पर्यन्त पश्चाताप से अनुतापित होना पड़ता है।

राजिम, नयापारा

१६ मई

## युवक और आत्महत्या

आधुनिक परिवेश में हम देख रहे हैं कि चित्त की अस्थिरता के दलदल में फँसा युवक कितनी जघन्य एवं घृणित प्रवृत्तियों पर उतर आता है। क्षुद्र-सी घटनाओं पर आत्म हत्याओं की वारदातें आज की ज्वलंत समस्याएँ बन गई हैं। आज का सामान्य युवा मानस तनावों के शिकंजे में फंसा छटपटाता दिखाई दे रहा है। ये तनाव भी निम्न-कोटि के हैं, जिनकी अपनी कोई महत्वपूर्ण बुनियाद नहीं है।

किन्तु व्यक्ति मानस उन तनावों से उपराम पाने का जितना प्रयास करता दिखाई नहीं देता, उतना स्वत: ही उनके निर्माण के प्रति सचेष्ट दिखाई दे रहा है। वास्तव में मानसिक रोग आज इतने अधिक बढ़ गये हैं कि सम्पूर्ण जन-जीवन अस्त-व्यस्त जीवन जीने को वाध्य हो गया है।

खिशोरा

२० व २१ मई

# विजय - राम की या रावण की ?

राम और काम के चिरकालीन तुमुल संघर्ष में राम की विजय होनी चाहिए, किन्तु हुआ सदा इसके विपरीत ही है। लाखों करोड़ों राम परास्त होते हैं, कोई एकाध राम विजयी होते हैं। राम सदैव विजय का प्रतीक होना चाहिये, पराजय का नहीं। वास्तव में करोड़ों में राम-व्यक्तित्व एकाध ही होते हैं, अन्यथा राम के आवरण में रावण ही मिलेंगे।

आत्म-शक्ति और काम का संघर्ष जीवन क्षेत्र में सदा से होता रहा है—प्रतिपल होता रहा है और उस संघर्ष में आमतौर पर आत्म-शक्ति रूपी राम पराजय का मुख देखता है और काम उस पर हावी हो जाता है, क्योंकि आज हमारी आत्म-शक्ति सुषुप्त है अथवा अपनी सामर्थ्य को विस्मृत कर चुकी है। साधना का एक यह भी उद्देश्य है कि हम आत्म शक्ति को पहचानने का प्रयास करें।

**खिशोरा**

२२ मई

# संकल्प शक्ति का उपयोग

हमारे पास अपरिमेय संकल्प-शक्ति का स्रोत है, किन्तु उसके उपयोग की दिशा निम्नगामी है। जितने संकल्पों का प्रवाह वासनात्मक चिन्तन में लगा रहता है, उसका शतांश भी राम अर्थात् आत्मा–उत्थान की दिशा में नहीं लग पाता है। चौवीसों घण्टों में सम्भवतः कुछ मिनिट ही ऐसे मिल पाएंगे, जिनमें संकल्प शक्ति ने ऊर्ध्व दिशा की ओर गमन किया हो।

यह जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना है कि जिस विद्युत शक्ति का उपयोग निर्माण कार्यों में स्वेच्छया किया जा सकता है, उस विद्युत ऊर्जा का उपयोग हम जान बुझकर अपने ही सर्वनाश के लिये कर रहे हैं। बाहर की इस विद्युत से अनन्त गुणी ऊर्जा हमारे भीतर सन्निहित है, जो संकल्प प्रवाह के माध्यम से निरन्तर क्षीण होती जा रही है। हम उस शक्ति का मूल्यांकन नहीं कर पा रहे हैं। वास्तव में वह शक्ति मूल्यांकन की परिधि के बाहर है। किन्तु उसके क्षरण की दिशा को बदलकर उसे सर्जनात्मक दिशा में तो नियोजित किया ही जा सकता है।

**खिशोरा**

२३ मई

# विकारों का तूफानी आवेग

वासना का निम्न प्रवाही आवेग उस तूफानी हवा की तरह होता है; जो लह-लहाते खेतों को, भव्य भवनों को एवं अन्यान्य सुन्दर साधनों-पदार्थों को क्षण भर में धराशायी कर उनकी मनोरम सुन्दरता एवं उपयोगिता को नष्ट भ्रष्ट कर देता है। वासना का वह आवेग भी जीवन की शालीनता; चिर संचित साधना; चेहरे की दिव्यता एवं शारीरिक शक्ति स्रोत को धूमिल कर देता है। इस पर तारीफ यह है कि तूफानी हवा से नष्ट शक्ति एवं सौन्दर्य को फिर से प्राप्त किया जा सकता है; परिश्रम के द्वारा साधनों को पुन: संयोजा जा सकता है। किन्तु वासना के आवेग से नष्ट प्रतिभा-प्रतिष्ठा, साधना एवं उस दिव्यता को क्या पुन: प्राप्त किया जा सकता है !

कहते हैं कि एकवार मोती के टूट जाने पर अथवा पानी उतर जाने पर लाख प्रयास करने पर भी उसकी प्राकृतिक आभा और वहु-मूल्यता का उपादान असम्भव है। हाथ से निकल जाने वाली पिस्तोल की गोली को पुन: पकड़ पाना असम्भव है। ठीक उसी प्रकार क्षणिक भावनाओं में प्रवाहित शक्ति-ऊर्जा को पुन: प्राप्त करना नितान्त असंभव है।

खोये यौवन की पुन: प्राप्ति की वात विज्ञापनों में अवश्य पढ़ने को मिल सकती है, किन्तु यदि यह सम्भव होता तो आज संसार की दशा ही कुछ और होती। न कोई वृद्ध होता और न कोई वीमार। किन्तु ये वाक्य अपने आपको प्रतारित करने-ठगने का कार्य अवश्य कर सकते हैं। दरअसल खोए नूर को पुन: प्राप्त करना किसी भी व्यक्ति के लिए नितान्त असम्भव घटना है।

**मेघा, कुरूद**

२४ व २५ मई

# पश्चाताप का कारण पश्चात् भावी चिन्तन

हमारा चिन्तन आमतौर पर पश्चात् भावी चिंतन है। प्रत्येक कार्यारम्भ के पूर्व हम कम चिन्तन करते हैं। जब किसी के हानिप्रद परिणाम सामने आते हैं तब अवश्य हम पश्चाताप की भाषा में कुछ चिन्तन कर लेते हैं। यदि कार्य के प्रारम्भ में ही हम उसकी गम्भीरता के विषय में कुछ चिंतन कर लें तो पश्चाताप की ज्वाला में क्यों झुलसना पड़े ! जीवन की बहुमूल्य ऊर्जा को भी हम इसी प्रकार नष्ट कर देते हैं। और फिर पश्चाताप से अनुतापित होते रहते हैं। यदि जीवन की बहुमूल्य सम्पदा को, उस दिव्यता के नूर को बचाकर रखना है तो हमें शक्ति क्षरण के पूर्व ही गम्भीर चिंतन करना होगा, ताकि उस निरन्तर बढ़ने वाले पश्चाताप के अनुताप से बच सकें।

एक विशेष बात यह है कि हमारा पूरा जीवन पश्चाताप का एक चक्र ही बन गया है। आज त्रुटि की,कल पश्चाताप होगा और वह त्रुटि लगातार अपने को दुहराती जाती है और ठीक यही क्रम पश्चाताप का भी होता है। हम उस पश्चाताप एवं त्रुटि के इतने आदि हो गए हैं कि कभी हमें एहसास भी नहीं हो पाता है कि हमारा–शक्ति का स्रोत इस चक्र में किस प्रकार क्षीण होता चला जा रहा है।

शक्ति-स्रोत के क्षरण को प्रतिबन्धित करने का एक ही सहज उपाय है कि हर त्रुटि के पीछे इतना गहरा पश्चाताप हो जाए कि त्रुटि को दोहराने की हिम्मत ही टूट जाए,रिविजन का क्रम ही समाप्त हो जाए। जहाँ चक्र का क्रम टूट जाता है वहां सम्पूर्ण गति-क्रम ही अवरूद्ध हो जाता है तथा शक्ति का अजस्र प्रवाह निर्माण की ओर मोड़ ले लेता है।

**भाटागांव, देवरी, भखारा**

२६, २७ व २८ मई

# पुस्तकीय ज्ञान-अधूरा ज्ञान

जीवन की अन्यान्य प्रवृत्तियों की तरह आज के तथाकथित ज्ञान की अभिरुचि भी हीन भावनाओं से ग्रस्त होने के कारण एक बोझ सी बनती जा रही है। यद्यपि अन्यान्य कर्तव्यों से ज्ञान के प्रति सदा से अधिक लगाव रहा है, तथापि चिन्तन की गहराई में पहुंचने पर ज्ञात होता है कि जिस अनुभूति शून्य थोथे पुस्तकीय ज्ञान के पीछे हम पड़े हुए हैं, वह भी एक प्रकार का भटकाव ही है ।

ज्ञान का पवित्र उद्देश्य है—आत्म बोध का जागृत होना तथा अज्ञान जन्य संक्लेशों से मुक्त होना, जबकि आज ज्ञान-उपलब्धि के क्षेत्र में उसका उद्देश्य ही लुप्त-सा हो गया है। हम दिन-रात ढेरों पुस्तकें पढ़ जाते हैं, किन्तु उसके द्वारा जिस आत्म शांति को हस्तगत करना चाहते हैं वह हमसे अलग ही रह जाती है।

सही अर्थों में जिसे हम आज ज्ञान कह रहे हैं,वह ज्ञान नहीं,अज्ञान का ही एक रूप है। अज्ञान का अर्थ है,—अज्ञान में भटकना और ज्ञान का अर्थ है, आत्म—बोध पूर्वक आत्मिक आनन्द को खोजना । आज के तथाकथित ज्ञान के द्वारा हम अधिकाधिक भटकाव में ही बहते जा रहे हैं। क्योंकि आज का ज्ञान अनूभूति शून्य शाब्दिक विस्तार मात्र रह गया है और वह भी प्रसिद्धि, यशोलिप्सा अथवा मनोरंजन की पूर्ति का साधन भर बन गया है। हम अधिकाधिक इसलिए पढ़ते-लिखते अथवा प्रवचन करते हैं कि अधिकाधिक हमारा जन-सम्पर्क बढ़े, चारों ओर हमारी कीर्ति फैले अथवा हम लोगों का कुछ मनोरंजन ही कर दें। वास्तविक ज्ञान का इससे कोई विशेष सम्बन्ध ही नहीं है। आत्मिक ज्ञान तो इसके विपरीत जन-सम्पर्क एवं अहंकार वृद्धि से हटाकर आत्म केन्द्र में प्रतिष्ठित होने के लिए होता है ।

**भखारा**

२९ व ३० मई

# ज्ञान और वाचालता ?

ज्ञान के विकास के साथ वाचालता का अभाव अर्थात् मौन का विकास होना चाहिये। अनुभूति मूलक गम्भीरता का उद्भव होना चाहिये। किन्तु आज ज्ञान-दिशा इससे ठीक विपरीत ही लग रही है। इस तथा-कथित ज्ञान के विकास के साथ वाचलता एवं चंचलता का भी विकास होता जा रहा है। ज्ञान की वृद्धि के साथ मुखरता की वृद्धि 'अर्धो घटो घोष मुपैति नूनं' की उक्ति को चरितार्थ कर रही है। वास्तव में जिस पुस्तकीय ज्ञान को ही हमने ज्ञान मान लिया है, वह या तो ज्ञान पर अज्ञान का आवरण है या अत्यन्त अधूरा ज्ञान है जिसे हमने परिपूर्ण मान लिया है। यही भयंकर भूल हमें सम्यग् के द्वार तक पहुंचने नहीं दे रही है।

स्पष्ट शब्दों में कहें तो आज ज्ञान केवल वक्तृत्व कला, भाषण-बाजी जैसे तुच्छ लक्ष्य तक ही सीमित हो गया है। हम जितना अध्ययन चिन्तन-मनन करते हैं,प्राय: इसीलिये कि हमारी प्रवचन शैली में कितना निखार आ सकता है, हम लोगों को खुश कैसे कर सकते हैं।

ज्ञान का मूल लक्ष्य एवं विकास-परिष्कार एवं आंतरिक आनन्द की वृद्धि को प्राय: भुला दिया गया है, पर परिष्कार में ही हमारा ज्ञान सीमित हो गया है। जिसके द्वारा हम अन्तर की गहराइयों में पैठ सकते हैं,उसे ऊपर-ऊपर तैरने का माध्यम भर बना लिया है। प्रवचन-पटुता जीवन-सरोवर में ऊपर-ऊपर तैरने की एक कला मात्र है। यदि हम उसी ज्ञान शक्ति का उपयोग अपने मौलिक लक्ष्य के अनुसार अन्तर शुद्धि के क्षेत्र में कर सकें, तो अगणित अनुपलभ्य उपलब्धियों के द्वार उद्घा-टित कर सकते हैं। किन्तु यह कितना हास्यास्पद है कि हमने उसे प्रव-चन परिष्कार तक सीमित रख लिया है।

सेमरा

३१ मई एवं १ जून

# देहाध्यास

आत्मा और ज्ञान का जो सम्बन्ध स्वाभाविक एवं अनादि है, उसकी झलक एवं अनुभूति तो क्षणिक होती है और शरीर एवं आत्मा का जो सम्वन्ध वैभाविक है, उसकी अनुभूति अर्थात् देहाध्यास प्राय: प्रतिक्षण जागृत रहता है। यही तो है चेतना पर जड़ का प्रभाव अथवा सशक्त पर अशक्त की विजय। हमारा चौवीसों घण्टे का चिन्तन प्राय: आत्म परक न होकर देह और तत्सम्वन्धी पदार्थों पर ही होता है। यही कारण है कि हम आत्मानुभूति के करीव नहीं पहुंच पाते हैं- अथवा पहुंचकर भी कई वार पुन: देहाध्यास में भटक आते हैं। शरीर-सज्जा देह-सुरक्षा एवं उसके आकर्षण की वृद्धि में हम जितना प्रयास कर रहे हैं, उसका शतांश भी आत्म-चिन्तन में नहीं लगाते हैं।

हम कई वार अनुभूति के तल पर भी आत्मा एवं शरीर कि भिन्नता के प्रति सजग हो जाते हैं। किन्तु वह सजगता इतनी क्षण जीवी होती है कि उसके संस्कार भी कायम नहीं होने पाते। कुछ संस्कार लग भी जाएं, तो वैभाविक संस्कार इतने अधिक जागृत एवं सक्रिय होते हैं कि उन संस्कारों की जड़ नहीं जमने देते हैं। इसी जड़ीमा के प्रभाव के कारण आत्मा अनन्तकाल से संसार में भटक रही है।

किन्तु इस वात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि जड़ कितना ही प्रभावी क्यों न हो, चेतन की अपनी शक्ति अनुठी ही होती है। जड़ की शक्ति नपी-तुली होती है, जवकि चेतन शक्ति की सीमा नहीं होती, वह निस्सीम होती है। अतएव अन्तोगत्वा जड़ को, कर्म को अथवा देहाध्यास को परास्त होना पड़ता है। चेतन अपनी असीम शक्ति के प्रयोग द्वारा मुक्ति लाभ कर लेता है।

**पचपेड़ी, गातापार, तरसींवा**

२, ३ व ४ जून

## अनुशासन अपने पर

अनुशासन की बात दूसरों के लिये ही अच्छी लगती है। हम दूसरों को अनुशासित करें अथवा दूसरे सदा हमारे अनुशासन में रहें, इसके लिये हम जितने सजग रहते हैं, उसके शतांश भी हम किसी के अनुशासन में रहने को तैयार नहीं होते ।

वास्तव में जितनी चिंता हमें पर परिष्कार की है, उसके शतांश भी स्व-परिष्कार की नहीं होती। अन्यथा हम दूसरों को अनुशासित कर सुधारने के पूर्व स्वयं अनुशासित रहने का अधिक प्रयास करते। यह निश्चित तथ्य है कि व्यक्ति जितना अनुशासित होगा, उतना ही अपने जीवन के परिष्कार में प्रगति की ओर गतिशील होगा तथा लक्ष्य की उपलब्धि तक पहुंचेगा ।

धमतरी

५ जून

## अस्थिरचित्त का निर्णय

अस्थिर चित्त कभी किसी निर्णायक निष्कर्ष तक नहीं पहुंच पाता है। कदाचित् अस्थिर चित्त से कोई निर्णय ले भी लिया गया, तो वह समीचीन नहीं बन पाता है। आज के सामान्य जन-मानस की असफलता का एक प्रमुख कारण यह भी है कि उसकी प्रायः प्रत्येक प्रवृत्ति का प्रारम्भ एवं निर्णय अस्थिर चित्त से होता है। किसी भी कार्य की निर्णायक स्थिति में हमारा मन प्रायः दोलायमान स्थिति में रहता है। हम तीव्र संकल्प के साथ इस दृढ़-निश्चय पर नहीं पहुंच पाते हैं कि जिस कार्य को हम प्रारम्भ कर रहे हैं उसमें निश्चित सफल होंगे, विजय श्री निश्चित ही हमारे चरण चूमेगी। स्थिर चित्त के साथ संकल्पित कार्य में सफलता निश्चित ही हमारा साथ देती है। अतः जीवन के प्रत्येक कार्य-क्षेत्र में स्थिर चित्तता की आवश्यकता है और उसके साथ ही तीव्र संकल्प की।

धमतरी

६ जून

# क्षणिक आवेश जनित भूल-विपत्तियों की कतार

एक व्यक्ति की क्षणिक आवेश जनित भूल कितनी भयानक होती है और अपने पीछे कितनी विनाश लीला की श्रृंखला छोड़ देती है। यह समाचार पत्रों में आए दिन आने वाली बलात्कार एवं हत्याओं की घटनाओं से स्पष्ट हो जाता है। एक छोटा-सा पाँच मिनिट का अपराध और फिर दुःख पश्चाताप की एक लम्बी परम्परा प्रारम्भ हो जाती है। अपराध के तुरन्त पश्चात आत्म ग्लानि का दाह, फिर पुलिस के कोड़े, जेल के सीकंजे और अपराध भयंकर हुआ, तो मौत की सजा। व्यक्ति का सुन्दर-सुखद एवं व्यवस्थित जीवन-क्रम क्षण भर के तूफान में बिखरकर अस्त-व्यस्त हो जाता है, जिसकी उसे स्वप्न में भी कल्पना नहीं थी। कभी सोचा भी नहीं था कि यह एक क्षण इतनी विकराल विकटता उत्पन्न कर देगा।

प्रत्येक अपराधी-अपराधी-प्रवृत्ति में प्रवृत्त होता हुआ यही सोचता है कि 'मैं बहुत सावधान हूं, मैं किसी की दृष्टि अथवा पकड़ में नहीं आ सकता हूं।' यद्यपि वह ऐसी अनेक घटनाएँ सुन-पढ़ अथवा देख चुका होता है, जिनमें अच्छे-अच्छे दिग्गज चतुर अपराधी जेल के सीखंचों में सड़ रहे हैं अथवा फाँसी के फंदे में झूल गए हैं। वे भी अपने आपको दुनियाँ में सबसे शक्ति शाली एवं गुह्यता में सक्षम मानते रहे। व्यक्ति अपने आपको एक क्षण भर के लिये रोक ले अथवा क्षणिक आवेश की भयंकरता को ठीक से समझ लें, तो वह बहुत अधिक दुर्घटनाओं से बचकर अपने आपको सुरक्षित रख सकता है। विवेकवान व्यक्ति जीवन की बहुमूल्य सम्पदा का उचित और सुयोजित उपयोग कर सकता है और अकाल ही विनाश के कगार पर पहुंचने से बच सकता है।

**धमतरी**

७ व ८ जून

# अपराध और अपराधी वृत्ति

प्रत्येक अपराधी अपराध के प्रारम्भ से पूर्व प्रायः यही सोचता है कि उसका अपराध किसी की दृष्टि में नहीं आ सकता है। अपराधी प्रवृतियों में पकड़े जाने वाले कोई और है। उसकी किसी भी प्रवृति को कोई नहीं पकड़ सकता है। यह सोचते समय वह यह भूल जाता है कि वह सामान्य जन की दृष्टि से भले ही बच जाये, (यद्यपि यह भी अत्यन्त कठिन है) अपने अन्दर बैठे हुए उस सत्यदेव से नहीं बच सकता। अथवा पाप का घड़ा भरने पर फूटता ही है।

हम संख्यातीत घटनाएं देखते और सुनते हैं, जिनमें अपराधों की भयंकर एवं तज्जनित यातनाओं का स्पष्ट चित्रण होता है और क्षण भर के लिए अन्तरंग से आवाज भी आती है कि इस प्रवृति में कभी नहीं उलझना चाहिये। किन्तु क्षणिक आवेश में उसे भूल जाते हैं।

न जाने कितनी बार अन्तः स्वर उठता है कि अब यह प्रवृत्ति कभी नहीं करूंगा किन्तु वातावरण की अनुकूलता का सृजन पुनः-पुनः चंचल मन को आन्दोलित कर देता है। कितनी ही दृढ़ धारणा से की गई प्रतिज्ञाएं वातावरण का वायुवेग अथवा तीव्र आतप पाकर विलीन अथवा भस्म हो जाती है। इससे एक तथ्य उजागर होता है कि वातावरण का प्रभाव दृढ़ मनोभूमि को भी आन्दोलित कर देता है।

आज के भौतिक वातावरण की ओर देखें, तो साधना तो दूर उसकी सुवास की अनुकूलता भी दृष्टिगोचर नहीं होती है। साधकों के समक्ष भी इतना अधिक मोहक वायुमण्डल बिखरा रहता है कि बड़ी कठिनाई से वे अपने आप को सुरक्षित रख पाते हैं। वास्तव में जब तक वातावरण को बदला नहीं जाए अथवा दूषित वातावरण से अपने को अलग नहीं हटा लिया जाए, तब तक साधना कठिन है।

धमतरी

९, १० व ११ जून

# अमूल्य क्षण

जीवन में कुछ क्षण ऐसे गुजरते हैं अथवा यों कहें कि विगतकालीन घटना चक्र में कुछेक प्रसंग ऐसे वनते हैं, जिनकी स्मृति मन को पुनः पुनः एक अनुप्रम अह्लाद से भर देती है। चाहे वह आनन्द की तरंग क्षणिक ही क्यों न हो, अपने आप में अलौकिक होती है। वे क्षण, जिनमें कि हमने जीवन को जाना, समझा एवं मोड़ दिया, चरित्र की गरिमापूर्ण स्थिति को प्राप्त किया अथवा जीवन की गूढ़तम परीक्षाओं में खरे सोने की तरह चुन लिये गए, वास्तव में अनूठे होते हैं। उसकी यदा-कदा उभरने वाली स्मृति-रेखाएं मन में आह्लाद एवं अनुपम सुख को तरंगा-यित कर देती है। चिर-शोषित एवं मुर्झाए हुए मन के लिए वे तरंगे शीतल बयार का काम करती है।

इसके विपरीत कुछ ऐसी घटनाएँ होती है, जिनका स्मरण मात्र रोमाँचित कर देता है, पश्चाताप की ज्वालाओं में झुलसने को वाध्य कर देता है। सच तो यह है कि जीवन की अधिकांश घटनाएँ दुःखद ही होती है। बहुमूल्य मणियों एवं कंकड़-पत्थरों की तरह सुखद-आनन्दप्रद क्षण अल्प एवं संक्लेश की घड़ियाँ संख्यातीत मिल जाएँगी। चूंकि हमारा समुचा जीवन दुःख, तनाव, संक्लेश एवं संघर्षों से संव्याप्त है, अतएव प्रायः सभी दर्शनों की नींव दुःख ही माना गया है। मनो-वैज्ञानिकों के अनुसार हम चौवीस घंटों में केवल १६ सौलह मिनिट जागृत रहते हैं उसी प्रकार चौवीस घंटों में कोई एकाध मिनिट, मिनिट नहीं, क्षण ही वास्तविक अनुभूतिजन्य आनन्द का प्रदाता होता है। हमारे वहुमूल्य जीवन के ऐसे क्षण ही अधिक है, जिनकी स्मृति हमें निरन्तर परेशान करती है।

**आमदो, अरमरी**

१२ व १३ जून

# प्रगति या विगति ?

गति एवं स्थिति एक सिक्के के दो बाजू हैं। अतः जीवन की सम्पूर्णता एवं सर्वांगीणता के लिए दोनों अनिवार्य हैं। केवल गतिशीलता में सम्पूर्ण जीवन को आरोपित नहीं कर सकते हैं, और केवल स्थिति शीलता में भी नहीं। गतिशीलता मंजिल की ओर बढ़ाती है; गति प्रदान करती है, तो स्थिति शीलता केन्द्र पर पहुंचकर स्थिरत्व का संदेश देती है। जीवन-पर्यन्त निरन्तर चलने ही चलने वाला व्यक्ति किसी निश्चित लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता है। लक्ष्य की उपलब्धि हेतु यह नितान्त-आवश्यक है कि किसी केन्द्र-बिन्दु पर पहुंचने का संकल्प हो, जहाँ पहुंचकर गतिशीलता की अल्पता से स्थिति शीलता की पूर्णता में रूपान्तरित हुआ जाए। अतः गति-प्रगति के साथ स्थिति भी अनिवार्य है।

आज की तथाकथित प्रगति की दौड़ ठीक वैसी ही है, जिसमें स्थिति का अहसास नहीं रखते हुए एक पागल व्यक्ति सड़क पर दौड़ लगाता है। वह व्यक्ति, जिसे केवल दौड़ना आता है, ठहरना नहीं अथवा जिसे गन्तव्य का बोध नहीं, पागल कहा जाता है। किन्तु आज की प्रगति का भी ठीक से अवलोकन करें तो लगेगा कि हमारी यह दौड़ भी लक्ष्य हीन ही है। बिना किसी सुनिश्चित उद्देश्य के हम दौड़ते ही चले जा रहे हैं। हमें यह बोध नहीं है कि हमें आखिर रुकना कहाँ है ?

प्रगति के प्रतिमानों को रौंदता हुआ इन्सान आज बहुत आगे बढ़ गया है, किन्तु सुनिश्चित स्वस्थ उद्देश्य के अभाव में वह अधिक से अधिक भटकता ही है। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि बिना उद्देश्य की एक पांव की यह लम्बी दौड़ दौड़ी ही कैसे जा रही है। इस प्रगति से कहीं हम विगति अथवा निकृति की ओर ही तो नहीं बढ़ रहे हैं।

परसौदा, कलंगपुर
१४ व १५ जून

# क्रोध एक चिनगारी

राग-द्वेष की सामान्य एवं शिथिल ग्रन्थि बिना ही किसी प्रयास के धीरे-धीरे कितनी सख्त एवं क्लिष्ट बन जाती है, इसका अनुभव आज दो बन्धुओं के आपसी मनोभेद के चित्र में सुस्पष्ट भासित हो रहा है। प्रारम्भ में एक लघु प्रपात के रूप में बहती हुई जलधारा आगे चलकर कितना विराट रूप धारण कर लेती है, ठीक वही स्थिति कषाय की उस धारा की है, जो अपने प्रारम्भ में ना-कुछ निमित्त से प्रारम्भ होती है और आगे बढ़ती हुई एक कषाय-सागर का ऐसा रूप ले लेती है, जिसमें पीढ़ियों से चले आ रहे भ्रातृ भाव, प्रेम एवं सौहार्द्र के भाव सम्पूर्ण रूप से डूब जाते हैं–तिरोहित हो जाते हैं। सदियों से चली आ रही अपनत्व की भावना धूमिल हो जाती है। एक दूसरे के परम हितैपी, जानी दुश्मन बन जाते हैं।

वास्तव में क्रोध एक ऐसा सघन आवरण है, जिसमें बुद्धिज्योति पूर्ण रूप से तिरोहित अथवा नष्ट प्रायः हो जाती है। व्यक्ति बौद्धिक दृष्टि से प्रायः दृष्टिहीन ही हो जाता है। उसका हिताहित का विवेक खो जाता है। एक पागल-सी विक्षिप्त दशा हो जाती है। जिस क्षण क्रोध का तीव्र आवेग उपस्थित होता है, कृत्याकृत्य के भेद से शून्य होकर क्रोधी व्यक्ति अपना ही कितना अहित कर जाता, इसका ख्याल उस नशे के उतरने पर ही हो पाता है।

क्रोध एक ऐसी चिनगारी है,जो अल्प समय में ही भयंकर विकराल रूप धारण कर लेती है। अग्नि की उस चिनगारी को तो अपनी खुराक चाहिये, खुराक होने पर ही वह बढ़ पाती है। किन्तु क्रोध कषाय की इस चिनगारी को किसी वाह्य खुराक की आवश्यकता नहीं,एक बार की निमित्त की चिनगारी अदृश्य मनोभूमि में वेशर्मी के पौधों की तरह अपने आप बढ़ती रहती है।

कलंगपुर, गुण्डरदेही [illegible] न्दा

१६[illegible]



अनु

# जीवन एक सागर

**सा**गर में संख्यातीत उजले मोती भरे पड़े हैं तो अगणित कंकड़ पत्थर भी। उसके पानी में घटाटोप मेघ-रचना की क्षमता भरी है, तो दूसरी ओर वर्तमान में वह अपने क्षार के कारण अनुपयोगी ही बना हुआ है। अपनी बहुमूल्य सम्पदा के द्वारा लाखों प्राणियों का वह आश्रय-दाता है तो दूसरी ओर तूफान एवं बड़वानल द्वारा लाखों प्राणियों को स्वाहा भी कर जाता है।

उस विशाल सागर के दोनों रूप हमारे जीवन सागर में भी स्पष्ट-तया प्रतिभासित होते हैं। शुभ भावनाओं का आलोक भी इसमें भरा पड़ा है, तो मलिन विचारों का सघन अन्धकार भी यहाँ घेरा डाले हुए हैं। अगणित सद्‌गुण रत्न इसमें है, तो दुर्गुणों के कंकर भी।

जीवन-सागर में क्षमा, शान्ति और सहिष्णुता की मनोरम लहरा-वलियां उठती है, तो कभी-कभी क्रोध, अहंकार एवं छद्‌म के बड़वानल भी इसमें अद्‌भूत होते हैं। वैमनस्य एवं कटुता का खारापन इसमें है, तो मधुर व्यवहार के द्वारा अपनत्व कायम करने की दिव्य क्षमता भी। कटु शब्दों द्वारा जहर उगलने की शक्ति इसमें है, तो मधुर वाक्यों से अमृत बिखेरने की योग्यता भी। किन्तु आधुनिक परिवेश पर दृग्पात करें तो लगता है इसका एक पक्ष ही, जो कटुता दुर्गुण, बुराईयों, विद्वेष घृणा एवं खारेपन से भरा हुआ है, अधिक सशक्त बना है। मधुरता, प्रेम, अच्छाइयों, सद्‌गुणों एवं सद्‌व्यवहार की ओर प्रायः अत्यल्प ध्यान ही जा पाता है। कारण स्पष्ट है कि कंकड़-पत्थर विना ही श्रम के उप-लब्ध हो जाते हैं, जबकि बहुमूल्य मोती पाने के लिए गहरी परिश्रम पूर्ण डुबकियां लगानी पड़ती है। वैसे ही दुर्गण विना ही प्रयास के जीवन में प्रविष्ट हो जाते हैं, जबकि सद्‌गुणों के लिए कठोर श्रम पूर्ण साधना की आवश्यकता है।

अर्जुन्दा
१९ व २० जून

Iधना के क्षेत्र में कुछ प्रवृत्तियां ऐसी भी होती है, जिनकी अपनी
री उपयोगिता होती है। किन्तु अपनी सामान्य बुद्धि उनकी गहराई
नहीं पहुंच पाती है और हम उन्हें नकारने लग जाते हैं। किन्तु सामा-
क व्यवस्थाओं के सीमा-बन्धन में उनका अनुशीलन अन्ततः लाभप्रद
द्ध हो सकता है। कभी-कभी सामाजिक व्यवस्था को भी इसलिये
ीकार कर लेना पड़ता है कि हमारे नकारने से सम्पूर्ण व्यवस्था ही
न्न-भिन्न हो सकती है। हो सकता है कि हमारी दृष्टि वहां तक नहीं
च पाई हो और अपनी-अपनी दृष्टि से उपयोगिता का नाप-तोल
सी भी व्यवस्था को स्थिर नहीं रहने देगा। यदि हर व्यक्ति अपनी
तकल्पना के अनुसार व्यवस्थाओं का निर्धारण करने लगेगा तो परि-
म यह होगा कि साधना के मार्ग भी भिन्न-भिन्न निर्धारित हो
एंगे। किन्तु जहाँ अनेक अन्तरंग आवाजें साक्षी दें वहां उस अनुष्ठान
उपादेयता-अनुपादेयता पर अवश्य विचार होना चाहिये।

**अर्जुन्दा**
२१ व २२ जून

# निर्माण संस्कारों का

**प्रा**यः हर पिता आज अपनी सन्तान के विषय में चिन्तित एवं परेशान-सा दिखाई देता है और यह एक तथ्यपूर्ण मौलिक संघटना है, जिस पर हमारी पूर्ण भावी-व्यवस्था टिकी हुई है। क्योंकि आज की सन्तान ही तो कल की जनक और नागरिक बनने वाली है। आज भले ही अधिकांश बुद्धिजीवी जन-चेतना इस विषय से बेखबर होकर सोई हुई है, फिर भी अन्यान्य समस्याओं से इस समस्या का कोई कम महत्व नहीं है। आम व्यक्ति आज इस विषय में कुछ भी नहीं सोच पा रहे हैं, किन्तु आधुनिक परिवेश को देखते हुए स्पष्ट कहा जा सकता है कि वे ऐसे नागरिकों का निर्माण कर रहे हैं, जो एक यन्त्र से अधिक कारगर नहीं होंगे। उनकी स्वयं की बुद्धि अपने हिताहित सोचने में भी असमर्थ होगी।

आज के मासूम एवं कोमल मस्तिष्क वाले बच्चों के समक्ष जो वातावरण है तथा जो बाल साहित्य बड़े धड़ल्ले से उनके सामने प्रस्तुत किया जा रहा है, वह निश्चित ही विक्षिप्त एवं विनाश-विघटनकारी बच्चों-नागरिकों का निर्माण करने वाला है। बड़े दुःख का विषय है कि समूचे राष्ट्र-जाति एवं समाज को विनाश के कगार पर पहुंचाने का प्रयास किया जा रहा है, जो स्वयं के पैरों पर कुल्हाड़ी मारने जैसा है।

जिन बच्चों की उदीयमान प्रतिभा को चरित्र एवं जीवन-निर्माण की दिशा देनी है, उनकी शक्ति का सही दिशा में विकास करना है। आज किशोर अवस्था से ही गन्दे साहित्य, अश्लील, पिक्चर एवं अभद्र वातावरण में उनकी प्रतिभा का दुरुपयोग किया जा रहा है। जब प्रारम्भ में ही बुद्धि व्यर्थ के विचारों में बिखर जाती है तो उस बुद्धि को निर्माण की दिशा कैसे मिल सकती है?

अर्जुन्दा
२३, २४ व २५ जून

# कथनी और करणी

आज की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि हर व्यक्ति अच्छाइयों को अच्छाई मानता एवं समझता है, किन्तु उस पथ पर चलने का जहां प्रसंग आता है, वह सबसे पीछे रहना चाहता है। प्रायः हर व्यक्ति यह समझता है कि सत्याचरण, नैतिक व्यवहार, करुणा, दान, सेवा एवं परोपकार आदि प्रवृत्तियां श्रेष्ठ है। इनका अनुसरण वर्तमान जीवन को भी प्रतिष्ठित बनाता है और आगामी काल के लिए सुख-समृद्धि का निर्माण भी करता है। किन्तु जहां आचरण का प्रसंग आता है, हर व्यक्ति एक-दूसरे से दो कदम पीछे हट जाना चाहता है। इसके विपरीत जिन प्रवृत्तियों की हेयता को समझते हैं। जिनके बुरे परि-णामों का अनेकों बार अहसास कर चुके हैं, उनकी ओर पुनः-पुनः धड़ल्ले से दौड़ जाते हैं। इससे बढ़कर अज्ञानताजन्य विडम्बना और क्या हो सकती है।

आम व्यक्ति समझते हैं कि असत्य बोलने के अन्तिम परिणाम बुरे होते हैं। क्रोध अपनी अन्तिम परिणति में भयंकर विस्फोट के साथ जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। वासना का आवेग एक ज्वालामुखी-सा विस्फोटक होता है। अहंकार की अर्गला विकास के सभी द्वारों को अवरुद्ध कर देती है। इतना सब कुछ समझते हुए भी इनसे बचने का प्रयास नहीं के बराबर ही होता है। निरन्तर इन भयंकर शत्रुओं से वे घिरे रहते हैं। कई बार इनके परिणामों को भोग लेने के बाद भी पुनः क्षणभर के आवेग में सब कुछ भूल जाते हैं। अनादि कालीन वासना के कारण वह विभाव ही स्वभाव-सा बन गया है और अब उसे विभाव कहते ही नहीं बनता है। तात्पर्य यह है कि वर्तमान का समूचा जन-जीवन विभाव की हेयता एवं स्वभाव की उपादेयता को समझते हुए भी विभाव बुरी प्रवृत्तियों की ओर ही तीव्र गति से दौड़ता हुआ दिखाई दे रहा है। जो जीवन के लिए अभिशाप का ही कार्य कर रहा है।

अर्जुन्दा

२६ व २७ जून

# जीवन एक गिरगीट

जीवन और उसकी सम्पूर्ण गतिविधियों को ठीक से समझ पाना एक जटिल पहेली के समान अत्यन्त कठिन है। हमारा वैचारिक जीवन गिरगिट की तरह इतने रंग बदलता रहता है कि उसका कोई एक रंग बताते नहीं बनता है। क्षणभर पूर्व आकाश को छूने वाली ऊंचाइयों में उड़ने वाली विचार-तरंगे दूसरे ही क्षण भूमिसात हो जाती है। अथवा पाताल की गहराई में प्रवेश कर जाती है। जीवनोन्नति एवं जीवन निर्माण के क्षणभर पूर्व के संकल्प विचारों के हल्के से झोंके से कपूर की डलिया की तरह बिखर जाते हैं। हमारा वैचारिक जगत इतनी दुरुह पहेली है कि उसका हल खोज पाना बहुत कठिन है। जितना हल ढूंढा जाता है, उतना ही जटिल जाल फैलता चला जाता है।

अर्जुन्दा
२८ जून

# जीवन इन्द्र धनुतीरंग

इन्द्र धनुष के रंगों में कौन-सा मुख्य है और कौन-सा गौण, इसका निर्णय कर पाना अत्यन्त कठिन है। ठीक वैसे ही विचारों के विविध रंगों में कौन-सा रंग अधिक गहरा है, समझ पाना कठिन है। जिस-जिस प्रकार सघन मेघाडम्बर की सृष्टि को प्रबल समीर के झोंके तितर-बितर और स्त्रस्त-ध्वस्त कर देते हैं, उसी प्रकार कई बार संकल्प-गर्मी विचारों की सृष्टि को भी विपरीत वातावरण के थपेड़े उखाड़ फेंकते हैं।

वास्तव में तीव्र संकल्पित साधना के द्वारा जब तक उस रंग को मजीठिया-अत्यन्त गहरा नहीं बना दिया जाए, जीवन की किसी समीचीन दिशा का निर्धारण नहीं हो सकता है और उसके अभाव में बिना उद्देश्य की गतिशीलता की तरह जीवन अनेक दिशाओं में भटकता ही रहेगा।

अर्जुन्दा
२९ जून

# पराई चिन्ता

मस्तिष्क में एक जटिल प्रश्न पुनः-पुनः उभरता है, – क्यों हम सदा दूसरों के विषय में ही अधिक सोचा करते हैं। जब कभी कोई मिला तो तीसरे व्यक्ति अथवा तीसरी प्रवृत्ति की चर्चा। एकांत–चिन्तन की घड़ियों में भी, अनायास और अनजाने ही अवान्तर विषय मूल-विषय को विस्थापित कर देते हैं।

इस जटिल प्रश्न का अन्तरंग से ही कभी छोटा-सा उत्तर मिलता है "शायद हम अपने से भिन्न प्रदार्थों में रहते हुए उसकी निकटता के इतने अभ्यस्त हो गए हैं कि तत्सम्बन्धी विचारों को अपने से अलग कर पाना अत्यन्त कठिन हो गया है। हमारा सम्पूर्ण जीवन इस भौतिक वातावरण एवं बाह्य परिवेश में ही इतना खो गया है कि इसे केवल परिवेश ही दिखाई देता है; शरीर और आत्मा नहीं।

अच्छाई एवं बुराई का आरोप–प्रत्यारोप भी हम सदा दूसरों के प्रति करते हैं। अपनी बुराईयों पर हमारा ध्यान प्रायः नहीं वत् ही केन्द्रित होता है। हाँ, अपनी अच्छाई पर अवश्य हमारा ध्यान केन्द्रित हो जाता है। अपना ही नहीं, हम दुनियाँ का ध्यान भी पुनः उसी की ओर खींचना चाहते हैं। कामना यही रहती है कि हम भले ही परि-पार्श्ववर्त्तियों के दोषों का पैनी दृष्टि से अवलोकन करते रहें, लोग हमारे गुणों और अच्छाइयों को ही देखें।

हमारी मान्यताएँ कितनी भुरभुरी हैं। हमारा मानस द्वन्द्वों और द्विविधाओं में ही जीने का कितना अभ्यासी है। हमारे चिन्तन का बाहरी पक्ष सदैव कहता है और भीतरी पक्ष भी अनवरत हुंकार भरता है कि आमजन अथवा प्रायः लोग छिद्रान्वेषी हैं—वे दोष-दूषणों की तलाश में ही लगे रहते हैं। किन्तु यह बेढंगी दुर्बलता है कि हम चाहते हैं कि लोग गुण द्रष्टा बनें रहेंगे और सद्गुणों का जयगान ही करते रहेंगे। हमारा बचकाना चिन्तन बड़े सहज भाव से स्वीकार कर लेता है कि लोगों की दृष्टि हमारे दोषों की ओर नहीं जायेगी। फिर सारा

जीवन ही अभिनय बन जाता है। प्रश्न है कि फिर हमारे दोषों का, जिनके सही द्रष्टा केवल हमीं हो सकते हैं, परिहार कैसे होगा ? यदि हमारा सबल व्यक्तित्व दोषों को रक्षा-कवच में लपेटे रहने में सफल भी रह गया, तो परिष्कार कहाँ हुआ ? आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने दोषों और दूसरों के गुणों को देखने का अभ्यास करें।

अर्जुन्दा
३० जून
सुरगी, राजनांद गाँव
१ व २ जुलाई

# साधना आत्म प्रवेश

यदा-कदा ही झंकृत होते हैं, अन्तः प्रेरणा किंवा अन्तर्वेदना के स्वर ! क्या अर्थ है इस साधना का अथवा साधना को समर्पित जीवन का ? किस आधार पर कहूँ कि यह साधना है और मैं साधक हूं ? साधना–साधना–साधना–शब्द ही हृत्तन्त्री को झकझोर देता है। पारिभाषिक अर्थों में साधना है, "साध्य की ओर निरन्तर गतिशीलता, मञ्जिल की ओर बढ़ते ही जाना, चाहे मन्थर गति से ही। किन्तु जीवन के इतने वसन्त साधक एवं साधना के नाम से व्यतीत कर देने पर भी लगता है, "अन्तर में समुचित साधना नहीं उभर पाई है।

ज्ञान-साधना के लिए इतनी निष्ठा है। क्रिया-कलापों के प्रति सजगतापूर्वक जीने का सतत् प्रयास चल रहा है। सिर्फ ज्ञान और क्रिया से आत्मानुभूति कैसे हो ?

प्रश्न अत्यन्त जटिल, किन्तु सचोट है और कई बार चेतना को झकझोरता हुआ पूरे अस्तित्व को ही आन्दोलित कर देता है।

उत्तर के लिए किसी की बगलें झांकने की आवश्यकता ही हास्यास्पद लगती है। कौन इसका उत्तर दे सकता है और दिया गया उत्तर क्या कभी सार्थक सिद्ध हुआ है, हो सकता है ? नहीं, कदापि नहीं। गढ़े-गढ़ाये तोता रटान्त उत्तर की परिधि के बाहर का है यह प्रश्न। हाँ, स्वतः से पूछने पर ही अथवा कभी-कभी विना पूछे भी उत्तर ध्वनित होने लगता है, जो एक सन्तुष्टि की रेखा उभार देता है।

**तिलाई, माहरुमकला.**
२ व ४ जुलाई

## अप्रत्याशित घटनाएँ मार्ग दर्शिका

कुछ अप्रत्याशित ऐसी घटनाएँ घटित हो जाती है, जो सम्पूर्ण चेतना को आन्दोलित कर देती हैं। मनो भावनाएँ और कवायदी योजनाएँ धरी रह जाती हैं। विवशता की ऐसी परिस्थिति आ उपस्थित होती है कि पूर्व विचारित कार्यक्रमों को एकदम बदल देना पड़ता है। किन्तु ऐसी परिस्थितियों से भी एक लाभ अवश्य होता है कि हम परिस्थितियों से जूझने की शक्ति संजोने का प्रयास करते हैं अथवा प्रभु के उन वाक्यों का अवश्य स्मरण कर लेते हैं, जिनमें जीवन की अस्थिरता एवं क्षण भंगुरता का बोध कराया गया है। वास्तव में चिन्तन की गहराई में पहुँचें तो प्रत्येक परिस्थिति मार्ग-दर्शक का कार्य करती है। शर्त है कि उससे कुछ सबक लेने का प्रयास किया जाए।

**सिगारपुर**

५ जुलाई,

## साधना की भित्ती

दैनिक जीवन में ऐसे संख्यातीत विचार उठते हैं, जो तथ्य एवं सत्य की ओर खींचते हैं। किन्तु कुत्सित विचारों की काली लकीरें उन्हें उठने से पूर्व ही पोंछ देती है। यदि उन विचारों का शतांश भी संकल्प पूर्वक आचरण के धरातल पर उतर जाए, तो यह जीवन एक महकते हुए सुवासित सुन्दरतम फूल से कम नहीं हो! जीवन की सबसे विचित्र विडम्बना यही है कि सद्विचारों से परिवेष्टित होते हुए भी जो उसकी अपनी निधि या थाती है वह कुत्सित विचारों की गलियों में ही भटकता फिरता है। आज तक इस देवासुर संग्राम में असुर ही विजयी होते आ रहे हैं। अतएव देवी शक्ति का अमृत कलश अपने निकट होते हुए भी प्राप्त नहीं हो पा रहा है। साधना की मूल भित्ति के रूप में यह नितांत आवश्यक है कि प्रतिपल उठने वाले सद्विचारों को आचरण के धरातल पर उतारा जाए।

**खैरागढ़**

६ जुलाई

## व्यवस्था का सांचा

जिस समाज, सम्प्रदाय अथवा पार्टी से व्यक्ति सम्बद्ध होता है, उसके लिए उसे कई बार अन्तरंग आवाज को दबाकर अपने विकास की रफ्तार को कम करनी पड़ती है। व्यक्तिगत विकास की अभीप्सा को तिलांजली देनी पड़ती है और ऐसा करने में कई बार उसे पिछड़ जाना पड़ता है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति की साधना की रफ्तार वेगवती है, किन्तु जिस सांप्रदायिक दायरे से वह सम्बद्ध है, उनके नियमों का पालन उसके लिए भी अन्य साधकों के समान ही अनिवार्य है, जब कि उसकी चेतना कुछ सामान्य नियमों की परिधि को लांघ चुकी होती है। यह एक व्यावहारिक तथ्य है कि दशवीं कक्षा का विद्यार्थी चाहे अपनी तीव्र मेधा से एक माह में ही अपना कोर्स पूरा करले, किन्तु शाला के नियमों के आधार पर उसे पूरा वर्ष उसमें बिताना होगा।

खैरागढ़
७ जुलाई

## नियम बद्ध साधना

कुछ साधकों को परम्पराएं अन्धी, उबाने वाली एवं व्यर्थ लगती है, वे उसकी अनिवार्यता को साधना का हिस्सा नहीं मानते, बल्कि व्यवधान मानते हैं। एवं समझते हैं कि साम्प्रदायिक नियमों द्वारा अन्तर आत्मा को दबाया जाता है एवं विकास के मार्ग को अवरुद्ध किया जाता है।

साधना की उच्च भूमिका के साधक के लिये किसी सीमा तक यह बात ठीक हो सकती है किन्तु आरम्भिक सीढ़ियों पर सभी साधकों को नियमावली से गुजरना आवश्यक है।

खैरागढ़
८ व ९ जुलाई

# साधना : चर्चा में नहीं आचार में

सिद्धान्त एवं साधना की गम्भीर परिचर्चा करने वाला मन कभी-कभी सामान्य-सी बातों में उलझकर उपहासास्पद स्थिति का निर्माण कर लेता है। एक तरफ निरन्तर साधना में सशक्ति के विचार और दूसरी ओर भौतिक वातावरण के उलझाव एक ऐसी द्वैतपूर्ण स्थिति का सृजन कर देते हैं कि उद्देश्य का अस्तित्व ही डोलने लगता है और ऐसी स्थिति में लगता है, साधना एवं ज्ञान-उपासना की चर्चा केवल विचर्चा है, वह जीवन के साथ अभिन्न सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकती। यदि अध्यात्म एवं साधना में रस उत्पन्न हो जाये, तो तुच्छ भौतिक मनो वृतियां तो उससे कोसों दूर रहेंगी। वास्तव में साधना की समग्रता तभी फलित होगी जब इस संकुचित मनोवृत्ति से ऊपर उठा जाये।

**पिपरिया**

१० जुलाई

# आज का शिक्षण ?

आज की शिक्षा पद्धति पर जब कभी चिन्तन मुखर होता है, एक हल्की-सी वेदना से चेतना संवेदित हो उठती है। स्वतंत्र भारत में चेतना स्वातं त्र्य के बोध के प्रति सजगता का पाठ पढ़ाना तो दर किनार, निरन्तर दासता एवं गुलामी के ही संस्कार उद्दीप्त किये जा रहे हैं। आज शिक्षा का उद्देश्य ही अपने आप में सिमिट कर दासता की उपलब्धि रह गया है। इसका प्रत्यक्षीकरण प्रति वर्ष विश्व विद्यालयों से निकलकर गुलामी-नौकरी की खोज में भटकने वाले हजारों युवकों की मन: स्थिति के द्वारा किया जा सकता है। इसे आज की शिक्षा का परिणाम ही मानना होगा कि शिक्षा के समाप्त होते ही युवक हुनर-रचनात्मक कार्यों से अनभिज्ञ अपने आपको गुलामी के बन्धनों में जकड़ने के लिये दौड़ लगाने लगते हैं और कहीं नौकरी मिलते ही अपनी शिक्षा को सार्थक मान लेते हैं।

अतएव कहा जा सकता है कि आज की शिक्षा अपने मूल उद्देश्य से भटक चुकी है। उसका उद्देश्य केवल डिग्री हांसिल करना, कुछ उपाधियों से अपने आपको सजा लेना भर रह गया है।

छुईखदान
११ जुलाई

# शिक्षा उद्देश्य आधुनिक संदर्भ में

'सा विद्या या विमुक्तये' के मौलिक उद्देश्य की बात तो जाने दें, ज्ञानार्जन भी शिक्षा के उद्देश्य से अलग हट गया है। शिक्षा के द्वारा जीवन और जीवन-दर्शन को ठीक से समझने का प्रयास नाम शेष रह गया है। आज का आम विद्यार्थी परीक्षा हाल में चाकू और छुरे के बल पर पेपर बनाने में प्रयत्नरत है और उसी के द्वारा किसी भी विश्व विद्यालय की उपाधी से अपने को अलंकृत कर लेना चाहता है। किन्तु चिन्तनीय है कि छुरे के बल पर डिग्री ली जा सकती है, ज्ञान अथवा अनुभूति नहीं।

छुईखदान
१२ जुलाई

# प्रतिशोध की भावना टी.वी. के कीटाणु

प्रतिशोध की भावना टी. वी. के उन कीटाणुओं की तरह होती हैं जो शनैः शनैः सम्पूर्ण जीवन को खोखला बना देते हैं। कभी-कभी प्रतिशोध के विचार इतना उग्र रूप धारण कर लेते हैं कि व्यक्ति दूसरे के अस्तित्व को समाप्त करने में अपने आपके अस्तित्व को ही खतरे में डाल देता है और इतने जघन्य कृत्यों पर उतर जाता है कि वहाँ मानवता तो दूर, पशुत्व भी नामशेष रह जाता है। प्रतिशोध के ये कीटाणु प्रायः प्रत्येक व्यक्ति को घेरे हुए हैं, चाहे वह विद्वान्, साधक अथवा सत्ता सम्पन्न ही क्यों न हो। हाँ, प्रतिशोध का तरीका भिन्न-भिन्न हो सकता है। एक विद्वान अपने ढंग से प्रतिशोध के क्षेत्र में उतरता है और उसी प्रतिशोध में अपनी सम्पूर्ण विद्वता को होम देता है तो दूसरी ओर साधक अपनी चिर-संचित साधना को ही बलि-वेदी पर चढ़ा देता है।

छुईखदान
१३ जुलाई

## वासना का तूफानी दौर

आज एक घटना पढ़ी- इस्ताम्बूल के एक युवक ने वासना के आवेग में नौ व्यक्तियों की हत्या कर दी। चिन्तन चला—

विचारों के उतार-चढ़ाव जब तूफानी बरसाती नदी की तरह होने लगते हैं, तब वे सम्पूर्ण चेतना को आन्दोलित कर उठते हैं। यद्यपि तूफानी वेग की तरह उठने वाले विचार अल्प सामयिक स्थिति वाले ही होते हैं, तथापि उस अल्पकालीन स्थिति में भी वे कभी इतनी विकट परिस्थितियां उत्पन्न कर देते हैं, जिनके चलते सम्पूर्ण जीवन संकटापन्न बन विनाश के कगार पर पहुँच सकता है। इसमें भी कामुकता के विचार तो इन्सान को सर्वनाश की ओर ही खींच लेते हैं। वहां उन विचारों के प्रभाव में बहने वाला व्यक्ति अपनी प्रतिष्ठा-गौरव-गरिमा तक को विस्मृत कर जाता है। काम-विकार का एक वैचारिक झटका जब तूफानी दौर स्वीकार करता है तो चिर संचित साधना एवं तज्जन्य प्रतिष्ठा सब धूमिल हो जाते हैं।

**खैरागढ़**
१४ जुलाई

## साधना का मार्ग पुष्पशय्या

लोग कहते हैं अथवा एक सामान्य जन श्रुति है कि साधना का पथ असिधारावत् अत्यन्त कठोर एवं श्रम साध्य है, किन्तु अनुभूति की फलश्रुति इस तथ्य को स्वीकार करने से इंकार करती है। अनुभूति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि साधना का पथ अत्यन्त सुगम पुष्प शय्या पर शयन जैसा आनन्द देने वाला है, यदि उसमें रस आने लगे। एक व्यापारी को अर्थ प्राप्ति के लिए-बीहड़ वन पार करते हुए भी आनन्द आता है।

**गातापार**
१५ जुलाई

## इन्द्रिय-निग्रह

साधना पथ में यदि कोई दूरूहता है तो वह एक ही हैं, इन्द्रिय-निग्रह, वैकारिक वृत्तियों पर नियन्त्रण। आम तौर पर वैकारिक भावनाएँ ही साधक को अपने पथ से च्युत करती हैं। यदि इस कठोरता को ठीक से समझ लिया जाए, तो साधना जैसा आनन्द और किसी विषय में नहीं आ सकता है।

माहरुमकला
१६ जुलाई

## कार्यारम्य और समाप्ति की चिन्ता

किसी कार्य का प्रारम्भ अथवा किसी नूतन प्रवृत्ति में मंगल प्रवेश अत्यन्त सुखद एवं आनन्दप्रद लगता है, किन्तु कार्यारम्भ के पश्चात् इति तक उसकी निर्विघ्न परिसमाप्ति का संशय उस आनन्द को दुःख में बदल देता है। प्रवृत्ति के प्रारम्भ के साथ ही समाप्ति की चिन्ता कर्मजा शक्ति को क्षीण करती जाती है। परिणामतः कार्य की परिपूर्णता में व्यवधान आ खड़े होते हैं।

किसी कार्य का प्रारम्भ यदि अपनी शक्ति की इयत्ता को नापकर किया जाय तथा निरन्तर अभिरुचि पूर्ण उत्साह का संबल पकड़ लिया जाय तो बिना ही चिन्ता के कार्य की परिपूर्णता चरण चूमती है।

राजनांदगांव
१७ जुलाई

## मन की रूचि

लघुतम निमित्त मिलते ही पुनः पुनः मन की वाह्य रूचि यह अभिव्यक्ति देती है कि अभी भी साधना में आस्था का अंकुर नहीं फटा है। आंतरिक आनन्द की झलक अभी कोसों दूर हैं। अन्यथा अन्तर-आनन्द-लीन चित्त वृत्तियाँ क्षण भर में क्यों वाह्यभिमुखी हो जाती ! मधुकर को, जिसे महकते कुसुम की सौरभ में आनन्द का आस्वाद मिला है, हम लाख प्रयास करके भी गन्दगी पर नहीं ले जा सकते। जबरन ले जाया जाए तो भी उसमें विधर्मी अभिरूचि उत्पन्न नहीं की जा सकती। साधनागत आन्तरिक अभिरूचि के उत्पन्न होने पर भी यही दशा चित्त-वृत्तियों की होनी चाहिए। लाख प्रयास करने पर भी बुराई अथवा वाह्य वृत्ति में दौड़ न लगे। तभी तो माना जा सकता है कि साधना में कुछ रस उत्पन्न हुआ है।

**राजनांदगांव**

१८ जुलाई

## आज की अभिरूचि

जितनी तल्लीनता आर्थिक-पारिवारिक एवं सामाजिक समस्याओं को हल करने के प्रति होती है, उसका शतांश भी आत्म निर्माण की प्रवृतियों में नहीं बन पाती है। फोन सुनने में जितनी तल्लीनता रहती है, उतनी वीतराग वाणी के सुनने में अथवा आत्म साधना में नहीं रह पाती है। और यही एक कारण है कि अध्यात्म साधना रस-पूर्ण फल प्रद नहीं बन पाती है। साधना की सफलता उनके प्रति होने वाले प्रयास की एकाग्रता एवं समग्रता में ही निहित है और वह आज केवल वाह्यया-भिमुखता में ही संयुक्त है स्व के प्रति लगाव ही परमार्थ की बुनियाद है। स्व के प्रति तल्लीनता के प्रयास बार-बार फिसल जाते हैं, जब कि पर प्रदार्थों पर टिके रहना स्वभाव-सा प्रतीत होता है। विचित्रता है कि स्व से विदकाव और पर से लगाव ही किस प्रकार स्व-भाव बन जाता है !

**राजनांदगांव**

१९ जुलाई

## समस्याओं की कतार

आज का मानस समस्याओं के चक्रव्यूह में निरन्तर उलझता जा रहा है। समस्या भी एक नहीं है—पेट की, शिक्षा की, परिवार की, धर्म की, अध्यात्म की, दिखावे एवं प्रतिष्ठा की। इन सभी समस्याओं से हर इन्सान घिरा हुआ है। यह एक मनो वैज्ञानिक सत्य है कि एक समस्या के समाहित होते ही दूसरी समस्या आ खड़ी होती है। और चूँकि समस्या सदा नवीन होती है (प्रत्येक संकट सदा नूतन होता है।) अतः उसका समाधान भी नूतन ही होना चाहिए। समस्या को समझने के लिए मन को सदा नवीन, सुस्पष्ट एवं तीव्रग्राही बनाना होगा। यह बड़ी अजीव स्थिति है कि सभी नूतन समस्याओं का हल हम किसी एक घिसे-पीटे पुराने तरीके से कर लेना चाहते हैं। जबकि ऐसी स्थिति से समस्याएँ समाहित नहीं होती, अपितु कुछ जटिल ही बन जाती है। नूतन समस्याओं का समाधान नूतन परिवेश में ही हो सकता है।

**राजनांदगांव**
२० जुलाई

# क्रांति की खोज

आज प्रत्येक विचारक का चिन्तन एक क्रान्ति की खोज में है। ऐसी क्रान्ति, जो समाज एवं राष्ट्र की व्यवस्था में आमूल परिवर्तन की वाहक बन सके। ऐसी क्रान्ति जिससे जीवन का सम्पूर्ण परिवेश ही बदल जाए। न जाने कितने मूर्धन्य मनीषियों का मानस ऐसी क्रान्ति लाने के प्रति व्यस्त है, किन्तु आश्चर्य है कि क्रान्ति का सूत्रपात हो नहीं पा रहा है। लगता है समस्या के समाधान की प्रक्रिया में कहीं बड़ी भूल हो रही है और उसे पुनः–पुनः दोहराया जा रहा है।

वास्तव में समस्या बाह्य नहीं है, जिसे हल करने का महत् परिश्रम किया जा रहा है। समस्या आन्तरिक है और उस आन्तरिकता की ओर चिन्तकों का किञ्चित् भी ध्यान आकर्षित नहीं हो पा रहा है।

जब तक हम समस्या के उत्स को नहीं समझ लेते, उसका समाधान नहीं खोज सकते। समस्या का मूल उत्स है हमारी आन्तरिक वृत्तियाँ। अतः यदि क्रान्ति करनी हो तो उसका आरम्भ भी विचार–परिवर्तन से ही होना चाहिये। हम समाज एवं राष्ट्र को बदलने का तो अत्यधिक प्रयास करते हैं, किन्तु अपने अथवा परिपार्श्ववर्ती व्यक्तियों के विचारों को परिवर्तन करने का कभी विचार नहीं करते।

यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि यदि हम व्यक्तिशः अपने विचारों को परिष्कृत करने की संकल्पपूर्ण साधना में संलग्न हो जाएँ, तो समाज एवं राष्ट्र को बदलने और उसमें एक शान्त क्रान्ति का सूत्रपात करने में कोई व्यवधान उपस्थित नहीं हो सकता क्रान्ति का आरम्भ अपने आप से होना चाहिये।

**राजनांद गांव**

२१, २२ व २३ जुलाई

## भ्रान्तियां

आज हम अधिकांश-तया भ्रान्तियों में ही जीते हैं अथवा यों कहें हमारे चारों ओर भ्रान्तियों का ही जाल फैला हुआ है, जिसमें हमारा समूचा जीवन उलझा हुआ है। दो व्यक्ति बात कर रहे हैं और हमें लगता है कि वे हमारे ही विषय में चर्चा कर रहे हैं। और हम एक बहुत बड़ी भ्रान्ति का भूत अपने पीछे लगा लेते हैं। किसी ने आकर किसी तीसरे व्यक्ति के विषय में अपने अच्छे या बूरे विचार रखे और हम एक तरफ की सुनकर अपनी धारणा को सुदृढ़ बना लेते हैं, जो कई बार एकदम मिथ्या सिद्ध होती है। इस भ्रान्तिपूर्ण वातावरण में सत्य के द्वार तक पहुँचना और भी कठिन होता जा रहा है। कई बार हम किसी बड़ी भ्रान्ति को अपनी आस्था समर्पित कर बैठते हैं, जिससे जीवन की सम्पूर्ण व्यवस्था डगमगा जाती है।

राजनांद गांव
२४ जुलाई

## मन का अश्व

मन का अश्व सदा-सदा से उत्पथगामी हो रहा है और आज भी है। भले ही हम इस विभाव को स्वभाव ही मान लेना कहें। किन्तु वह विभाव अनन्त-अनन्त काल से चेतना से इतना अधिक तादात्म्य स्थापित कर चुका है कि यह भूल होनी स्वाभाविक है। साधना के द्वारा लाख प्रयास किया जाता है कि हम मन-अश्व की गति को अपने नियन्त्रण में रखें, किन्तु वे प्रयास कुछ क्षण तक ही प्रभावी रहते हैं। वह अश्व पुनः अपनी विपथ गामी गति में लीन हो जाता है। मन की इस उत्पथगामिता से लगता है कि सत्पथ का अनुभूतिमूलक बोध जागृत नहीं हो पाया है। अन्यथा दुग्ध की मधुरता को अनुभूत कर लेने के उपरान्त गटर के पानी की ओर आकर्षण कदापि नहीं हो सकता है। अतः आवश्यक है कि साधना को अनुभूति तक ले जाया जाए जिसमें मन अनुभूत हो सके।

राजनांद गांव
२५ जुलाई

## साधना और उसकी चर्चा

आज की सम्पूर्ण साधना, शाब्दिक प्रतिपादना के दायरे में ही सिमट कर रह गई है, अथवा यों कहें साधना शब्दों के महा अरण्य में भटक कर खो गई है। साधना के सन्दर्भ में हम बहुत विस्तृत चर्चा कर सकते हैं। उस पर सुन्दर, लच्छेदार, आकर्षक भाषण दे सकते हैं, पर उसमें जी नहीं सकते। जब कि साधना है स्वयं में जीना। आज तक साधना, संयम, सदाचार, नैतिकता की हजारों व्याख्यायें प्रस्तुत की जा चुकी है। किन्तु उन शाब्दिक व्याख्याओं तक ही साधना के सभी अंग सीमित रह गये और समस्या जटिलतर बनती चली गई। आखिर किस व्याख्या को संगत माना जाय और किसके आधार पर जीया जाए। आवश्यकता है कि हम साधना को शब्दों से नहीं अनुभूति से पहचानने का प्रयास करें।

राजनांद गांव
२६ जुलाई

## शब्द का सामर्थ्य

शब्दों की अपनी सामर्थ्य सीमा होती है। अतः शब्दों के द्वारा सम्पूर्ण सत्य को अभिव्यक्ति देना असम्भव है। सम्पूर्ण सत्य को अनुभूति के आलोक में ही साक्षात् किया जा सकता है। आज के अधिकांश विवादों, संघर्षों एवं दार्शनिक विवादों का कारण है शब्दों की परिभाषाओं में उलझ जाना और उन्हीं के द्वारा शाश्वत सत्य अथवा सम्पूर्ण सत्य को खोजना। सत्य, वस्तु का मौलिक स्वरूप है। उसकी परिपूर्ण रूप से अभिव्यक्ति का वस्तु के साक्षात् कर्ता को ही हो सकती है। साक्षात्कृत अथवा अनुभूत वस्तु के स्वरूप को शब्दों से अभिव्यक्ति देते समय उस सम्पूर्ण आयामों को अभिव्यक्ति नहीं दी जा [illegible] उसकी प्रतिपादना में असमर्थ होते हैं। सत्य शब्द- [illegible]

# जल्दी का निर्णय

भावुक हृदय से किसी भी विषय में शीघ्र निर्णय ले लेना अत्यन्त हानिप्रद सिद्ध होता है। निर्णय की शीघ्रता में व्यक्ति अथवा वस्तु के ऊपरी परिवेश को देखा जाता है, उसकी आन्तरिक वृत्तियों का साक्षात्-कार उन चन्द क्षणों में नहीं हो सकता है। कई बार तो महीनों नहीं, वर्षों सहवास के बावजूद भी हमारी परख धोखा खा जाती है। भावुक व्यक्ति के लिये यह विषय बहुत अधिक चिन्तनीय है। भावुक एवं निश्छलहृदयी व्यक्ति प्रत्येक व्यक्ति को अपनी भावुकता से ही मापता है वह अपने समान ही सबको भावुक एवं सरल समझ बैठता है और महज विश्वस्त बन जाता है। परिणामस्वरूप अपने व्यावहारिक जीवन में उसे बहुत परेशानियों का सामना करना पड़ता है।

राजनांद गांव
२८ जुलाई

# दृष्टी : अपनी अपनी

आम तौर पर हम अपनी दृष्टि से ही संसार को तोला करते हैं, जो कई बार बहुत अधिक भ्रान्त होता है। हम किसी व्यक्ति अथवा वस्तु को जिस रूप में देख रहे हैं, वही उसका वास्तविक रूप हो, यह अनिवार्य नहीं। सम्भव है कि हमें उसके कुछ और ही पहलू दिखाई दे रहे हों और वस्तु की मौलिक परिणति कुछ और ही प्रकार की हो। अतएव अपने दृष्टिकोण को ही पूर्ण सत्यमान लेना सत्यमार्ग से नेत्र बन्द कर लेने के समान है।

प्रभु महावीर के "अनन्त धर्मात्मकं तत्वं" के सूक्त में सम्पूर्ण वस्तु व्यवस्था समाई हुई है। वास्तव में वस्तु में अनन्त धर्म हैं और सब अपना-अपना स्वतन्त्र महत्व रखते हैं। अतः जैन तत्वज्ञों ने दृष्टि की विशालता एवं उदारता पर बहुत अधिक बल दिया है। किन्तु आज स्थिति विपरित एवं दयनीय-सी बनी हुई है।

राजनांद गांव
२९ व ३० जुलाई

## अपने क्षण

दैनिक जीवन के चोवीस घंटों में बड़ी कठिनाई से कुछ ही क्षण ऐसे होते हैं, जिनमें अन्तरंग वृत्तियों पर कुछ ध्यान केन्द्रित होता है। साधना का आवरण परिवेश स्वीकार कर लेने के पश्चात् भी कई साधकों की यह स्थिति है, तो जो संसार में उलझे मानव हैं, उनकी स्थिति क्या होगी ? खैर, हमें दूसरों से कोई प्रयोजन नहीं है। स्वयं पर चिन्तन करना अधिक श्रेयस्कर होता है, और वह चिन्तन पुनः आगाह करता है कि साधना की अन्तरंगता पर पूर्ण सजगता नहीं बन पा रही है, जब कि वह अनिवार्य है। आन्तरिक सजगता के अभाव में किसे साधना कहा जाए ? केवल परिवेश परिवर्तन को ? नहीं यह तो केवल कलेवर है, आत्मा नहीं।

**राजनांद गांव**
३१ जुलाई

## साधक और सांसारिक चर्चा

सांसारिक झमेलों को सुनते हुए कई वार तो ऐसे विरक्ति के भाव मुखरित होते हैं कि कितना द्वन्द्व है इस संसार में, कितनी विकृति की ओर चला जा रहा है तथाकथित सभ्य – समाज। हम इन द्वन्द्वों से अलग हट गए कितना अच्छा हुआ ! किन्तु दूसरी ओर कई वार ऐसे घटना-चक्रों को सुनते-सुनते एक ऐसी ऊव भी उत्पन्न हो जाती है कि क्या मतलव है, एक साधक को इन सव के सुनने से ! क्यों नहीं स्वयं में ही रमण किया जाय ? कुछ एकान्त के क्षण ऐसे भी आते हैं जव इन सवको देखकर एक अवूझ हँसी भी आ जाती है।

वास्तव में वर्तमान के जिस पर्यावरण में जगत् जी रहा है वह एक हास्यापद स्थिति ही है। जहां प्रत्येक इंसान का दम घुटता जा रहा है। वस हम द्रष्टा वन कर जीना सीख लें। हमारे लिए यही प्रर्याप्त होगा।

**राजनांद गांव**
१, २ अगस्त

# विचारों की दौड़

विचारों की विपथगामी दौड़ पर कई वार बरबस हंसी छूट पड़ती है और कई वक्त बड़ी झुंझलाहट भी उत्पन्न हो जाती है। कितने तेज दौड़ते हैं विचार ! एक क्षण में कहाँ से कहाँ पहुंच जाते हैं। कोई ओर न छोर। कई वक्त विचारों का ऐसा तूफान खड़ा हो जाता है, जो संपूर्ण मानस को असन्तुलित कर देता है। ऐसे विचार, जिनका कोई अर्थ नहीं अथवा जिनकी ऊंचाईयों तक कभी पहुँचना ही नहीं हो सकता, इतने परेशानी में डाल देते हैं कि उससे पिन्ड छुड़ाना कठिन हो जाता है।

किन्तु एक ज्वलन्त प्रश्न है कि इन सब विचारों का उद्‌भव स्थल कौन-सा है ? किस मनोभूमि से ये विषैले एवं भयंकर अंकुर फूटते हैं ? जिसके उद्‌गम का बोध ही न हो, उससे मुक्ति पाना दुस्वार है। अत: मन: साधक के लिये आवश्यक है कि दुर्विचारों के उद्‌भव स्थल का ज्ञान कर वहीं प्रतिबन्ध लगा दें।

राजनांद गांव
३ अगस्त

# रूप : अन्तर बाहर का

यदि अपनी मानसिक हलचलों का अध्ययन करें, तो लगेगा, जैसे हम दिखाई देते हैं, वह हमारा असली रूप नहीं है। हमारा आन्तरिक रूप कुछ और है, और जो हम पेश करते हैं, वह उससे सर्वथा भिन्न है। दिन भर के नहीं, एक घन्टा भर के सम्पूर्ण विचारों को लिपिबद्ध कर सकें (जब कि यह असम्भव है) और उन्हें पढ़ने बैठें, तो या तो हम विक्षिप्त हो जाएंगे। या अपने नकाबी जीवन पर बहुत जोर से हँसेगे। जीवन का यह द्वैत भाव ही संसार है। अन्तर और बाहर की इतनी असमानता यह इंगित करती है कि हम अपने वास्तविक स्वरूप से अजनबी हैं। अत: द्वैत से अद्वैत्त में आरोहण से तात्पर्य अन्तः प्रवेश का ही है।

राजनांद गांव
४ अगस्त

## साधक और लगाव

अधिक निकटता और वह भी एक साधक के लिये, अत्यन्त हानिप्रद सिद्ध होती है। किसी भी व्यक्ति के प्रति लगाव एक सीमा तक ही शोभनीय होता है। साधनागत जीवन के लिए तो यह नितान्त वांछनीय है कि वह गृहस्थ से ही नहीं, अपने सहयोगी साधकों के प्रति भी अतिरिक्त आसक्ति से परहेज रखे। केवल तभी उसकी साधना निर्बाध रूप से गतिशील रह सकेगी और आसक्तिजन्य व्यवधान मुँह नहीं उठा पाएंगे।

राजनांद गांव

५ अगस्त

## परिचय विस्तार

प्रारम्भ में परिचय विस्तार बहुत सुखद एवं प्रिय लगता है। किन्तु ज्यों-ज्यों साधना की गहराई में पहुंचते हैं, वह खलने लगता है। परिचय की अधिकता साधना के स्वभाव के लिए बाधक है। साधना एवं परिचय विस्तार दोनों विरोधी दिशा के सूचक हैं।

राजनांद गांव

६ अगस्त

## घनिष्ठता और उसका निर्वहन

किसी भी व्यक्ति से घनिष्ठता स्थापित करना बहुत सहज हैं, किन्तु उसका निर्वाध निर्वहन उतना ही अधिक कठिन हो जाता है और जब अनेक व्यक्तियों से घनिष्ठता स्थापित हो जाती है तब तो पूर्ण रुपेण उसे निभा पाना कठिनतम हो जाता है।

अतः साधक के लिये तो यह नितान्त वांछनीय है कि वह अपने सम्बंन्धों को सामान्य परिचय तक ही सीमित रखे और वह भी स्वल्प व्यक्तियों के साथ। अधिक घनिष्ठता साधना के लिए एक व्यवधान बनकर खड़ी हो जाती है। घनिष्ठता जितनी गहरी होगी, जितनी विस्तृत होगी, मानस स्व केन्द्रित न रहकर उतना ही विकेन्द्रित होता चला जायगा। और स्व केन्द्र से भटक कर विकेन्द्र पर ही स्थिर हो जाना साधना नहीं, विराधना ही कही जा सकती है।

**राजनांदगांव**

७ अगस्त

## सुन्दर आवरण में छिपा बिभत्स

सुना था कि पिक्चर आई है "सत्यं–शिवं सुन्दरम्" और चिन्तन हुआ शायद जन-जीवन अब विपथ को छोड़कर 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम् की ओर अग्रगामी बन रहा है। अपने पुरुखों के द्वारा प्रदत्त मार्ग का पुनः अनुसरण करने जा रहा है। किन्तु यह क्या ? सुनाने वाले ने दूसरे ही क्षण कहा—"यह तो केवल उसका नाम है। उसमें दिखाये जाने वाले कारनामे तो सब असत्य अशिव और असुन्दर की ओर ही ले जाने वाले हैं। "सत्यं–शिवं–सुन्दरम्" पूरी पिक्चर में वासनाओं का ही प्रदर्शन है।

कितनी छलना हो रही है जन जीवन के साथ और उसके माध्यम से अध्यात्म के पवित्रतम सिद्धान्तों के साथ ! पिक्चर का भी सुन्दर नामांकन करके जन जीवन को छलने का यह अजीब प्रयास है।

**राजनांदगांव**

८ अगस्त

## अस्थिर संकल्प

प्रति दिन सन्ध्या को एक संकल्प-सा जागृत होता है कि कल अमुक कार्य अमुक समय पर सम्पन्न कर लेना है। किन्तु वह संकल्प सम्भवत: इतना कमजोर होता है कि उसके यथार्थ तक पहुँचना दो प्रतिशत तक भी नहीं बन पाता है। बार-बार के पराजित संकल्प कई बार मस्तिष्क को इतना आन्दोलित कर देते हैं कि सम्पूर्ण साधना फीकी–फीकी लगने लगती है। इतनी दीर्घकालीन साधना के पश्चात् भी इतनी-सी संकल्प शक्ति नहीं जुटा पाए, तो साधना का अर्थ ही क्या हुआ ! साधना मनो-नियमन के लिये की जाती है और लम्बी साधना के पश्चात् भी मन पर इतना-सा नियमन नहीं हो सका, तो साधना व्यर्थ ही रही !

**राजनांदगांव**

९ अगस्त

## आज की मनः स्थिति कपूर की टिकिया

आज हम इतनी विश्रृंखलित मन: स्थिति में जी रहे हैं कि मन: स्थिति को समझ पाना भी नितान्त कठिन हो गया है। स्वयं के अस्तित्व का बोध तो दूर रहा, वर्तमान सामान्य जीवन के प्रति भी सजगता नामशेष रह गई है। जब कभी एकान्त के कुछ क्षणों में इस विचित्र मन: स्थिति पर चिन्तन होता है, लगता है मन या तो कपूर की टिकिया की तरह है या बादलों की तरह, जिसकी कोई एक स्थिति-आकृति नहीं। एक क्षण में संख्यातीत रूप धारण करने वाले मन की अपनी स्थिति हो ही क्या सकती है ?

गम्भीर तत्व विश्लेपक साधक भी मन: स्थिति के वैचित्र्य को समझने में अक्षम परिलक्षित होते हैं, तो सामान्य साधक की क्या बिसात है !

**राजनांदगांव**

१० अगस्त

## श्रद्धालु और श्रद्धेय

भावुक श्रद्धालुओं के द्वारा की जाने वाली श्रद्धा एवं भक्ति की अभिव्यक्ति पर कई बार चिन्तन मुखरित हो उठता है। साधक में इतनी श्रद्धा एवं भक्ति को झेलने की पात्रता भी है कि नहीं। यदि नहीं, तो क्या यह भी अपने आप के साथ एक छलावा ही तो नहीं है और साथ ही भावुक श्रद्धालुओं के साथ भी ? किन्तु भावुक श्रद्धालु भी इतनी अतिरेकी भक्ति क्यों करते हैं ? क्या इसके पीछे भी उनका कोई स्वार्थ निहित है ? पर ऐसा भासित नहीं होता है। उनमें सिर्फ श्रद्धा का अतिरेक मात्र है। छलना-मय वृत्ति प्राय: नहींवत् है। यह तो अभिवन्द्य के लिये ही चिन्तनीय है कि वह अपनी पात्रता को तदनुकूल बनाए एवं तदनन्तर ही स्तुति एवं वन्दन को स्वीकार करे, अन्यथा उसे उभयपक्षीय छलना का शिकार ही मानना होगा।

**राजनांदगांव**

११ अगस्त

## आत्मछल-झूठी प्रशंसा

सामान्य जन अथवा विद्वज्जनों के द्वारा प्राप्त प्रशंसा-पत्रों एवं स्तुतिगानों से मन को अवश्य प्रसन्न किया जा सकता है, किन्तु यदि प्रशंसा पत्रों में प्रदत्त उपाधियों को देखें तो दिवा-रात्रि सा अन्तर स्पष्ट परिलक्षित होता है और लगता है कि एक भोले भावुक मृग छोने को सिंह के चर्म से आवृत कर प्रतिष्ठित करने का हास्यास्पद प्रयास हो रहा है, जिससे मृगशावक भूल जाए कि मेरा स्वरूप क्या है।

किन्तु आवरण कई बार इतनी चतुरता से चढ़ा दिया जाता है कि उसके द्वारा स्वयं को धोखा देने के साथ दूसरों को भी सहज छला जा सकता है। यह छलना इतनी सस्ती है कि इसका प्रयोग एवं उपयोग साधारण से साधारण के लिये भी सहज है।

**राजनांदगांव**

१२ व १३ अगस्त

# आज का उपदेश एक परिवेश

उपदेश की इतनी सार्थकता परिलक्षित नहीं होती, जितनी कि अपने आप में होनी चाहिये । या तो कहें आज के उपदेश बंजर भूमि में निर्वापित बीज की तरह निरर्थक ही चले जा रहे हैं । लगता है आधुनिक परिवेश में उपदेश एवं श्रवण औपचारिकता किंवा व्यावहारिकता का निर्वहन मात्र रह गये हैं । क्या अर्थ है इतनी तैयारी पूर्वक गले फाड़कर सुनाने का अथवा समय निकाल कर सुनने का ? क्या यह औपचारिकता मात्र नहीं है ? शायद इससे एक झूठी मन स्तुष्टि भर हो जाती है कि हम 'अध्यात्म श्रोता हैं अथवा हम प्रखर वक्ता हैं ।' किन्तु इस मिथ्या मनस्तुष्ठि के द्वारा उभयपक्ष अपने को ही छलता जा रहा है । और यदि यही छलना भर है उपदेश एवं श्रवण, तो इसकी निरर्थकता स्वतः सिद्ध है ।

**राजनांदगांव**

१४ अगस्त

# अमृत उपहार गटर को दान

किसी को कोई बहुमूल्य उपहार भेंट दे अथवा बुभुक्षा के समय मधुर मिष्ठान समर्पित करे और वह उसे तुरन्त दाता के समक्ष ही किसी गंदे गटर में फैंक दे तो कल्पना करिये उस दाता को कितनी वेदना-पीड़ा होगी ?

किन्तु व्यक्ति अपने दैनन्दिन जीवन में इसी प्रक्रिया को ही तो नहीं दोहरा रहे हैं ? प्रवचन जैसे अमृत उपहार को श्रोता नित्य प्रति प्राप्त कर कहीं प्रवक्ता के समक्ष ही धर्म स्थान की (भौतिक) नाली में तो नहीं डाल देते हैं ? यदि श्रोतागण प्रतिदिन कुछ ऐसा ही करते जा रहे हैं तो चिन्तनीय है, प्रवक्ता को कितनी उत्कट वेदना की अनुभूति होगी ?

प्रवचन प्रदान एवं श्रवण की सार्थकता एवं उपयोगिता तभी होगी जब कि वे तदनुरूप जीवन-निर्माण करें अन्यथा एक परम्परा के पोषण के साथ आत्म प्रवञ्चना की संज्ञा ही-प्रवचन-श्रवण को देनी होगी ।

**राजनांदगांव**

१५ अगस्त

# खोज वक्ताओं की नहीं श्रोताओं की

लगता है आज श्रोताओं को श्रवण की बुभुक्षा नहीं, किन्तु वक्ताओं को वक्तृत्व की तीव्र उत्कण्ठा है। इसीलिये तो आधुनिक परिवेश में वक्ताओं की नहीं, श्रोताओं की ही खोज करनी पड़ती है। प्रवचनकर्त्ता को ही पुकारना पड़ता है 'आप हमारा प्रवचन नहीं सुनते, एक बार अवश्य प्रवचन सुनें ....' यह स्थिति स्पष्ट करती है कि श्रोता सुनते-सुनते ऊब चुके हैं, उनके सुनने की जिज्ञासा समाप्त हो चुकी है। कदाचित् आना भी पड़ा किसी प्रवचन में तो केवल औपचारिक-व्यावहारिकता के सम्पोषण के लिये। यह तो हुई आम-भाषण वक्तव्य की चर्चा, किन्तु कई स्थलों पर तो आध्यात्मिक किंवा धार्मिक प्रवचनों की स्थिति तो इससे भी कुछ नीचे प्रतीत होती है। वहां लाख मनुहारों के पश्चात् भी व्यक्ति दस मिनिट देने को तत्पर नहीं होता।

**राजनांदगांव**

१६ अगस्त

# मृत्यु का धागा मजबूती का अहसास

जीवन की स्थिति के प्रति चिन्तन करने पर लगता है कि प्राणी जन्म और मृत्यु के बीच एक पतले से धागे से बन्धे हुए हैं, जो किसी भी क्षण टूट सकता है। इसकी मौलिकता को स्वीकार करते हुए भी व्यक्ति स्वयं के प्रति बेखबर रहते हैं। शायद उसको यह भ्रामक अहसास होता है कि 'हमारा धागा बहुत मजबूत है, उसके जल्दी टूटने की सम्भावना नहीं है। दूसरे का धागा बहुत कमजोर था, अतः वह टूट गया।' किन्तु क्या यह चिन्तन अपने आप में खोखलेपन से नहीं भरा हुआ है? जिसके लिए वे सोच रहे हैं कि उसका धागा मजबूत नहीं था अथवा कमजोर था, क्या उसे भी हमारी तरह यह अहसास नहीं होता था कि मेरा धागा बहुत सशक्त है? 'यह सतही चिन्तन ही हमें भ्रम में डाले हुए है, फलतः मानव सांसारिक व्यामोह में जकड़ते ही जाते हैं धागे को मजबूत बनाने का प्रयास करते जाते हैं, किन्तु सहसा ऐसा क्षण आता है कि धागा टूट जाता है और वे मानव भी अनन्त के प्रवाह में विलीन हो जाते हैं।

**राजनांदगांव**

१७ अगस्त

# खोज वक्ताओं की नहीं श्रोताओं की

लगता है आज श्रोताओं को श्रवण की बुभुक्षा नहीं, किन्तु वक्ताओं को वक्तृत्व की तीव्र उत्कण्ठा है। इसीलिये तो आधुनिक परिवेश में वक्ताओं की नहीं, श्रोताओं की ही खोज करनी पड़ती है। प्रवचनकर्त्ता को ही पुकारना पड़ता है 'आप हमारा प्रवचन नहीं सुनते, एक बार अवश्य प्रवचन सुनें ....' यह स्थिति स्पष्ट करती है कि श्रोता सुनते-सुनते ऊब चुके हैं, उनके सुनने की जिज्ञासा समाप्त हो चुकी है। कदाचित् आना भी पड़ा किसी प्रवचन में तो केवल औपचारिक-व्यावहारिकता के सम्पोषण के लिये। यह तो हुई आम-भाषण वक्तव्य की चर्चा, किन्तु कई स्थलों पर तो आध्यात्मिक किंवा धार्मिक प्रवचनों की स्थिति तो इससे भी कुछ नीचे प्रतीत होती है। वहां लाख मनुहारों के पश्चात् भी व्यक्ति दस मिनिट देने को तत्पर नहीं होता ।

**राजनांदगांव**

१६ अगस्त

## मृत्यु का धागा मजबूती का अहसास

जीवन की स्थिति के प्रति चिन्तन करने पर लगता है कि प्राणी जन्म और मृत्यु के बीच एक पतले से धागे से बन्धे हुए हैं, जो किसी भी क्षरण टूट सकता है। इसकी मौलिकता को स्वीकार करते हुए भी व्यक्ति स्वयं के प्रति बेखबर रहते हैं। शायद उसको यह भ्रामक अहसास होता है कि 'हमारा धागा बहुत मजबूत है, उसके जल्दी टूटने की सम्भावना नहीं है। दूसरे का धागा बहुत कमजोर था, अतः वह टूट गया।' किन्तु क्या यह चिन्तन अपने आप में खोखलेपन से नहीं भरा हुआ है? जिसके लिए वे सोच रहे हैं कि उसका धागा मजबूत नहीं था अथवा कमजोर था, क्या उसे भी हमारी तरह यह अहसास नहीं होता था कि मेरा धागा बहुत सशक्त है? 'यह सतही चिन्तन ही हमें भ्रम में डाले हुए है, फलतः मानव सांसारिक व्यामोह में जकड़ते ही जाते हैं धागे को मजबूत बनाने का प्रयास करते जाते हैं, किन्तु सहसा ऐसा क्षरण आता है कि धागा टूट जाता है और वे मानव भी अनन्त के प्रवाह में विलीन हो जाते हैं।

**राजनांदगांव**

१७ अगस्त

## सजगता

किसी भी आवेश में बुरी प्रवृत्ति की ओर कदम बढ़ा लेना बहुत सहज है और उसमें एक फीके सुख की अनुभूति भी हो सकती है। किन्तु चरण जब उसके दलदल में फंस जाते हैं, तो छटपटाहट के अतिरिक्त यहाँ कुछ भी नहीं रह जाता है। कोई भी बुरी प्रवृत्ति अपने पीछे एक तड़फन भरा अनुभव छोड़ जाती है। यह एक बहुत सचोट सत्य है और इसे प्रत्येक चिन्तनशील मानस अनुभव करता है, किन्तु इसकी सत्यता को विरल व्यक्ति ही आत्मसात् कर पाते हैं।

यदि जीवन साधना की इस महत्वपूर्ण सच्चाई को ठीक से समझ लिया जाए एवं इसके प्रति सजगता को अनुभूत कर लिया जाए तो साधना के अगणित आयाम केवल इस एक सजगता के द्वारा ही हस्तगत किए जा सकते हैं तथा अगणित अवरोधों से मुक्ति मिल सकती है।

**राजनांदगांव**

१८ अगस्त

## अनदेखी वृत्ति

हमारा मन इस बात का अभ्यस्त-सा बन गया है कि जो बुराईयाँ अथवा दोष अपने भीतर हैं, उन्हें देखते हुए भी अनदेखा करके यदि किसी अन्य व्यक्ति में वे ही दोष हों, वह उन्हें सुधारने के लिये बेकाबू अथवा बेताब हो जाता है। अर्थात्, स्वयं की प्रवृत्तियों की ओर न देख-कर मन सदा अपने तथाकथित मित्रों किंवा शत्रुओं की लघुतम प्रवृत्तियों पर भी अत्यन्त सजग रहने का प्रयास करता है, जो स्वयं के प्रति एक छलावा है।

**राजनांदगांव**

१९ अगस्त

## आकर्षण विकर्षण

किसी के प्रति आकर्षित होना अथवा किसी को अपनी ओर आकर्षित करने की प्रवृत्ति प्रारम्भ में अत्यन्त सामान्य स्थिति में प्रारम्भ होती है और जब आकर्षण-विकर्षण बढ़ जाते हैं तथा कभी-कभी गलत मोड़ ले लेते हैं तो विकट परिस्थितियाँ निर्मित कर देते हैं। आज युवा-युवतियाँ प्राय: इसी के शिकार हैं।

**राजनांदगांव**

२० अगस्त

## संकल्पों का उथलपन

मन: साधना एवं इन्द्रिय-संयम के उद्देश्य से किये जाने वाले संख्यातीत संकल्प प्रतिदिन परास्त हो जाते हैं। अनेकों साधना-निरत सजग चेता साधकों की भी इतनी दयनीयस्थिति हो सकती है, महदाश्चर्य का विषय है। किन्तु निरन्तर की जाने वाली अनुभूति के प्रति आश्चर्य भी कैसा! जीवन की यह एक विचित्र अनुभूति है कि साधक प्रतिदिन संकल्पित होता है 'अब मन को नियन्त्रण में रखूंगा, इन्द्रियों पर सजगतापूर्ण दृष्टि रखूंगा, किन्तु इन्द्रियाकर्षण का लघुतम निमित्त पाते ही वे संकल्प छू मन्तर हो जाते हैं और मन का अश्व अपनी अभीप्सित दिशा की ओर दौड़ जाता है। इसका सीधा सा अर्थ तो नहीं लगाया जा सकता है कि साधना की स्थिति में कहीं बहुत बड़ी त्रुटि है ?

**राजनांदगांव**

२१ अगस्त

卐

## आस्था का दीप साधना का मार्ग

साधना-मार्ग की प्रगति की असफलता के कारण अथवा साधना में आने वाले अवरोधों के कारण कई वार साधक की मनः स्थिति अस्थिर-सी वन जाती है और उसे लगता है कहीं साधना की मूल भूमिका में ही तो कमजोरी नहीं है वास्तव में यह चिन्तन किसी हद तक सत्य-स्पर्शी भी है। वहुत वार विपरीत दिशा में गतिमान साधक साधना के उद्देश्य को तथ्यात्मक रूप से समझे विना ही साधना पथ पर पद चरण कर देता है और लीक का अनुसर्ता मात्र वनकर रह जाता है। अपने गन्तव्य का उसे वोध नहीं होता है। कदाचित् उद्देश्य अथवा गन्तव्य का शाब्दिक परिवोध होने पर भी उसके प्रति सहज आस्था का अभाव साधक को विचलित कर देता है। आज के परिवेश में अधिकांश साधक आस्था के अभाव में ही विचलित होते दिखाई देते हैं।

**राजनांदगांव**

२२ अगस्त

## मुर्झाए चेहरे और साधक

भौतिक चकाचौंध में आसक्त साधकों-मुकुक्षुओं के चेहरों पर छाई हुई मुर्दनी, उदासी, खिन्नता एवं वेवसी को देखते हुए लगता है साधना में कुछ भी रस-आनन्द नहीं आ रहा है। साधना एक वहुत वड़ा भार हो गई है अथवा किसी विवशतावश ली गई जिम्मेदारी है, जिसे रोते-धोते किसी तरह पार लगाना है। दूसरों को नहीं, स्वयं उस साधक को ही सम्भवतः ऐसा महसूस होता होगा कि वास्तव में उसने किसी गलत मार्ग का निर्धारण कर लिया है। अन्यथा साधक को साधना में गति करते हुए उस आनन्द की अनुभूति होनी चाहिए जो चेहरे पर पुष्प सी मुस्कान विखेर दे। आगन्तुकों को भी मुस्कान भरी सुवास ही मिले।

**राजनांदगांव**

२३ अगस्त

# असफलता का कारण अनास्था

कर्मजा शक्ति प्रेरित करती है कर्म-क्षेत्र में कूद पड़ने के लिए, और हम कर्म क्षेत्र में कूद भी पड़ते हैं। किन्तु कई बार तैरने के अनभ्यासी गोताखोर-सी स्थिति में उलझ कर मानो भंवर में गोते लगाने लगते हैं। परिणामत: कर्म-कार्य परिपूर्णता को नहीं पहुंच पाता। इसके अन्य अनेक कारण हो सकते है, किन्तु प्रमुख कारण है मानसिक अस्थिरता, अविश्वास अथवा सफलता के प्रति संदेह। जब तक दृढ़ विश्वास का सम्बल लेकर आत्म-बल के साथ कर्मक्षेत्र में नहीं कूदेंगें, डांवाडोल स्थिति स्वाभाविक है। अस्थिर मानस किंवा सन्देहात्मक स्थिति में आरम्भ किया गया कार्य सफलता का वरण कदापि नहीं कर पाता है। अत: अधिकांश कार्यों में असफलता का प्रमुख कारण है, अपनी कर्मजा शक्ति पर अनास्था।

**राजनांदगांव**

२४ अगस्त

# भय का कारण लुकाव छुपाव

संसार में भीत्ति के अनेक कारण हो सकते हैं। किन्तु एक कारण है अपनी त्रुटियों, अपराधों एवं कमजोरियों को गुप्त बनाए रखने का प्रयास। जहाँ भी ऐसी गोपनीयता है, समझना चाहिये, वहाँ भय निश्चित है। क्योंकि गोपनीयता का अर्थ है सत्य पर आवरण डालना। यदि हम सत्य हैं तो हमारे पास छिपाने जैसा कुछ भी नहीं हो सकता है, और जहाँ छिपावट नहीं, भय नहीं हो सकता है। अतः गोपनीयता के साथ भय का गहरा सम्बन्ध है। लुकाव–छिपाव की वृत्ति ही यह स्पष्ट कर देती है कि हमारे पास ऐसा कुछ है, जिससे हम भयभीत हो रहे हैं और सत्य पर पर्दा डालने का प्रयास कर रहे हैं। यदि हमारी सत्य के प्रति किञ्चित् भी आस्था है तो हमें गोपनीयता से कोसों दूर रहना चाहिये।

साधना किंवा साधक–जीवन एवं गोपनीयता का दिवा रात्रि-सा विरोधी सम्बन्ध है। हम साधक भी हैं और हमारे पास गोपनीयता भी है, यह असम्भव है। या तो हम साधक हो सकते हैं या गोपनीय-प्रवृत्ति के हो सकते हैं, दोनों एक साथ नहीं। साधना का अर्थ ही है पूर्णतः निश्चल वृत्ति जहाँ लुकाव–छिपाव-सा कुछ भी नहीं रह सकता है। साधक की साधना तभी निर्बाध रह सकती है जब कि गोपनीयता का बहिष्कार हो।

साधना में निर्बाध विचरण के लिए गुप्त प्रवृत्ति सदा बाधक बनती है। वैसी गुप्तता जहां भी होगी, मन सशंकित एवं आतंकित बना रहेगा और शंकित एवं आतंकित मनः स्थिति साधना के अनुकूल नहीं हो सकती। अतः हमारे पास वही हो, जो सबके समक्ष रखा जा सके।

**राजनांदगांव**

२५, २६ व २७ अगस्त

# साधना का शरीर

हजारों–लाखों साधकों में से इने गिने ही साधक मिलेंगे, जिन्होंने साधना के मूल उत्स एवं उसकी उपादेयता को ठीक से समझा हो। अन्यथा तो साधना के क्षेत्र में भी एक गतानुगतिकता का ही दौर परिलक्षित होता है। परिवेश–परिवर्तन के द्वारा लाखों साधक बन गए हैं, किन्तु साधना किस चिड़िया का नाम है, वे नहीं जानते। मात्र-क्रिया-पद्धति में अपने आप को सर्वश्रेष्ठ स्थापित कर लेना उनके लिये साधना रह गई है। जब कि साधना से इसका बहुत दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। अथवा यों कहें यह साधना का शरीर मात्र है, प्राण नहीं।

**राजनांदगांव**

२८ अगस्त

# समालोचना

अपने विषय में होने वाली आलोचनात्मक चर्चा कितनी विक्षेप एवं विक्षोभ कारक होती है, इसका अनुभव यदाकदा ही होता है। स्तुति एवं प्रशस्ति भोगी मानव के लिए आलोचना मर्मवेधी बन जाती है। हां, यदि समालोचना को वस्तु स्थिति के रूप में ग्रहण कर उसे पचाने की क्षमता अर्जित कर ली जाय तो आत्म परिष्कार के लिए उससे श्रेष्ठ अन्य कोई साधन नहीं है। अतएव समालोचक को बिना पैसे का रजक कहा है। किन्तु समालोचना को जब विकृत दृष्टि से ग्रहण किया जाता है, तो वह स्वयं के जीवन के लिये अभिशाप बन जाती है। अतः आवश्यक है कि हम समालोचक के अन्तरंग भावों का पूर्वाध्ययन करें एवं तदनन्तर ही उसके समालोचनात्मक विचारों पर निर्णय लें।

**राजनांदगांव**

२९ अगस्त

## एक भूल और अनेक प्रभावित

एक लघुतम भूल अपने पीछे भूलों की एक लम्बी कतार खड़ी कर देती है। एक कार का एक्सीडेण्ट, यदि मार्ग संकरा है, अपने पीछे कारों एवं ट्रकों की लम्बी लाइन लगा देता है। जब तक चोट खाई हुई कार को मार्ग से अलग नहीं किया जाए, ट्रैफिक का वह बहुत बड़ा काफिला आगे नहीं बढ़ सकता है। स्वयं की असावधानियों ने अथवा प्रमत्त भाव से हो जाने वाली अल्प सी त्रुटि का जब तक परिमार्जन नहीं हो जाए, वह अपने पीछे संख्यातीत त्रुटियों का काफिला खड़ा किये रहती है। कई बार तो पीछे से आ पड़ने वाली भूलें ही इतनीं महत्वपूर्ण हो जाती है कि मूल भूल का एहसास ही खो जाता है। जीवन में भूल कहाँ से आरम्भ हुई और उसने कितना जाल अपने पीछे बुन लिया, समझ पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

**राजनांदगांव**
३० अगस्त

## मन की कमजोरी

जीवन की अनेकानेक कमजोरियों में एक सबसे बड़ी कमजोरी है— अपनी सद्भूत कमजोरियों अथवा त्रुटियों को भी दूसरों से सुनकर सहन नहीं कर पाना तथा उन्हें अस्वीकार करने का प्रयास करना। यह जीवन की महती दुर्बलता है। कई बार अन्तश्चेतना को अहसास हो जाता है कि जीवन में अमुक त्रुटि है, मानस की अमुक प्रकार की कमजोरी है। किन्तु जब उसी एहसास के प्रति हमें कोई दूसरा व्यक्ति प्रेरित करता है अथवा सजग करता है, तो हम उसे स्वीकारने में कतराते हैं और दुस्साहसपूर्वक उसे नकारने का भी भरसक प्रयास करते हैं। सम्भवत: हम यह नहीं चाहते कि हमारी कमजोरी को कोई जानने पाये अथवा उसका कोई साक्षी हो इसीलिये हम उसे छिपाने का प्रयास करते हैं। अन्दर में सुधार के भाव लेकर भी ऊपर में हम उसे छिपा लेते हैं।

**राजनांदगांव**
३१ अगस्त

# अपनी असली पहचान

आज हमारी असली पहचान खो गई है। हम मूल रूप में क्या हैं, इसका अनुभूतिपूर्ण बोध बहुत कम व्यक्तियों को ही हो पाता है। जब भी हम किसी से परिचय पूछते हैं तो अपने आप को कोई डॉक्टर, कोई वकील, कोई इन्जिनियर, कोई प्रोफ़ेसर, कोई व्यापारी एवं कोई कर्मचारी अथवा नेता कह जाता है। वे यह भूल जाते हैं कि यह सब हम नहीं हैं। ये तो उपाधियां हैं, जो औपाधिक आरोपित हैं, स्वाभाविक नहीं। हमारा स्वाभाविक रूप इन सब से परे हैं, जो मानवीय तन के साथ मानव रूप है। उससे कुछ ऊपर उठनें पर हमारा मूल रूप है:— परम चैतन्य। जहां "एगे आया" के रूप में प्रभू महावीर की वाणी का उद्घोष सार्थक होता है।

राजनांदगांव

१ सितम्बर

ऊपर से पहने हुए हमारे उपाधिजनित खोल तो उस रंगे सियार से हैं, जहां हम समझते हुए भी अपने असली रूप को छिपाने का प्रयास करते हैं। वास्तव में यदि हम कुछ गहरे चिन्तन में जायेंगे तो लगेगा कि मौलिक रूप सदा अविकृत एवं नित्य अपरिवर्त्य होता है। एक डाक्टर अपने धन्धे के क्षणों में डाक्टर होता है, अपनी पत्नी के समक्ष उसका डाक्टरी रूप नदारद हो जाता है। जब कि उसका मूल चैतन्य गुण प्रति-क्षण वही का वही, अपरिवर्त्य रहता है।

आज की दौड़ भी केन्द्र से अलग हटने की ओर ही हो रही है। आज का जन-मानस चौबीसों घण्टे पर में व्यस्त होने का ही प्रयास करता है, स्व में प्रतिष्ठित होने का नहीं। डिग्रीयों के प्रति होने वाली प्रतिस्पर्धात्मक दौड़ इसका ज्वलन्त प्रमाण हैं स्व में प्रतिष्ठित होने के लिए किसी डिग्री की आवश्यकता नहीं। विपरीत इन डिग्रीयों को तिलाञ्जलि देने पर ही हम स्व प्रतिष्ठ हो सकेंगे।

**राजनांदगांव**
२ व ३ सितम्बर,

## शक्ति-इन्द्रियाकर्षण की

मेरे पास कई व्यक्ति आते हैं,अनेक प्रकार के संकल्प लेते हैं! पुनर्मिलन पर मैं पाता हूँ कि उनके वे संकल्प धराशयी हो जाते हैं। वास्तव में इन्द्रिय-विषयों का आकर्षण इतना सशक्त होता है कि हजारों बार की जाने वाली संकल्प पूर्ण प्रतिज्ञाओं को वह क्षण भर में बालू के पहाड़ को तरह उड़ा देता है। न जाने कितनी बार मानव चित्त संकल्पित होता है कि अब मिथ्या व्यामोह जनित आकर्षण से आकृष्ट नहीं होऊँगा। किन्तु मनोरम दृश्य अथवा श्रव्य के उपस्थित होते ही दोहराए गए संकल्प पल भर में छू-मन्तर हो जाते हैं।

**राजनांदगांव**
४ सितम्बर

## सत्य का दर्शन

सत्य का साक्षात्कार होता है साहजिकता में अर्थात् जीवन की सहज प्रवृत्ति ही सत्य का दर्शन है। किन्तु आज का सत्य दर्शन सहज नहीं, जटिल हो गया है। कुटिल एवं कुत्सित मनोवृत्तियों में सत्य इतना उलझ गया है कि उसे सुलझा पाना असम्भव-सा हो गया है। सत्य को जितना भी सुलझाने का प्रयास होगा, वह उसे और जटिल बनाता जाएगा। सत्य तो एक सीधा सा मार्ग है, उसे सुलझाना क्या है? वास्तव में सत्य को नहीं सुलझाना है, वह सुलझने जैसी कोई वस्तु नहीं है। सुलझाना तो स्वयं को है। व्यक्ति स्वयं में जटिल बन गए हैं। वे सुलझ जाएँ, जीवन की सीधी–समरेखा में गति करना सीख जाएँ, तो सत्य का दर्शन सहज हो जाएगा। सत्य बहुत सीधा है, टेढ़ा-मेढ़ा नहीं कि उसके लिए व्यक्ति को टेढ़ा-मेढ़ा होना पड़े।

राजनांदगांव
५ सितम्बर

## सत्य और उसका जीना

सत्य को समझ लेने के पश्चात् भी उसे जी पाना आज के परिवेश में अत्यन्त जटिल हो गया है। जीवन और मृत्यु की सत्यता को हम समझ लेते हैं। तीव्रत्तम आकांक्षाओं से भरा व्यक्तित्व हमारे सामने मृत्यु का ग्रास बन जाता है और हम मृत्यु की सहायता का साक्षात्कार कर लेते हैं, किन्तु उसे जी पाना कठिन है। मृत्यु की अनिवार्यता को समझकर भी हम अपनी उद्दाम लालसाओं को कम नहीं कर पाते हैं। हम जानते हैं कि अपनी संपूर्ण अभिकांक्षाओं को लेकर वह चला गया है और शायद कल को हम भी चले जायेंगे, परिपूर्ण आकांक्षाओं से भरे हुए ही। प्रत्यक्ष अनुभूतिपूर्ण सत्य को भी हम स्वीकार नहीं कर पाते हैं। तथ्यपूर्ण सत्य को भी हमारा नकारने का ही प्रयास रहता है।

राजनांदगांव
६ सितम्बर

# आदर्शवादी क्षमा

आज क्षमापना पर्व है। क्षमा की उच्च आदर्शात्मकता का प्रतिपादन किया जा सकता है, अत्यन्त संस्कृत एवं उदाहरणों से संयुक्त लच्छेदार शब्दों में। किन्तु क्या क्षमा को हम जी पाए हैं? क्षमा शब्द की सर्वांग-पूर्ण विवेचना कर लेने के पश्चात् भी क्या आत्मा की अतल गहराई में उसका कुछ भी स्पर्श हुआ है? यदि नहीं तो फिर इन प्रवचनों का क्या अर्थ है? यह केवल वाग्लिास तो नहीं है जिसे स्वयं के प्रति छलना भी कह सकते हैं! सामान्यसा निमित्त मिलने पर व्यक्ति आग-बबूला हो जाता है, अपने पर किञ्चित् भी नियन्त्रण नहीं रख पाता है। तो फिर स्पष्ट है कि प्रवक्ता के लिए प्रवचन सार्थक नहीं है। वे केवल 'परोपदेशे पाण्डित्यं' की ऊक्ति को ही चरितार्थ करने वाले हैं। आज की तीव्रतम आकांक्षा है कि क्षमा की वह रेखा अन्तर की गहराइयों को छू जाए।

हजारों टन मिठाई परोस देने के बाद भी चम्मच कोरा–का–कोरा ही रह जाता है। सम्भवत: वैसी ही कुछ दशा आज के उपदेशकों की है। हजारों उपदेश देने के बाद भी लगता है प्रवक्ता कोरे के कोरे ही रह गए हैं। कई बार श्रोताओं पर प्रवक्ता के विचारों एवं शब्दों के गहरे प्रभाव अंकित हो जाते हैं, किन्तु उसकी स्वयं की आत्मा अप्रभा-वित ही रह जाती है। उसे वह उपदेश छू भी नहीं पाता है। कैसी विचित्र विडम्बना है, इस जीवन की! शायद इन प्रवचनों को उपदेश नहीं, परोपदेश कहना अधिक संगत होगा 'उपदेश' का अर्थ है अत्यन्त सामिप्यपूर्ण देशना अर्थात् स्वयं के प्रति देशना। जब कि आज की देशना स्वयं के लिये नहीं, पर के लिये ही हो रही है। अत: इसे 'परोप-देश' कहना ही सार्थक होगा!

**राजनांदगांव**

७ व ८ सितम्बर

# साधक चित्त समालोचना सहिष्णु

**सा**वना इतनी सशक्त एवं गहरी होनी चाहिए कि कटु से कटु समालो-
चक भी हितैषी प्रतीत होने लगे। हितैषी अथवा अहितैषी होने का
दायित्व समालोचक पर नहीं, समालोच्य पर है। क्योंकि समालोच्य की
दृष्टि एवं प्रवृत्ति यदि पवित्र है तो समालोचक के द्वारा की जाने वाली
असत् एवं कटु आलोचना को भी वह हितप्रद बना सकता है। और
सावना का रहस्य भी यही है कि समालोचक के प्रति भी प्रेम का झरना
बहता रहे।

सामान्यतः आलोचना पर भी जो मानस क्षुब्ध हो उठता है, कैसे
माना जाय कि उसने मानसिक संतुष्टि की सावना में कुछ भी सफलता
प्राप्त की है? सावना की प्रारम्भिक भूमिका है, मानसिक सन्तुलन
बनाए रखना और यदि वह भी नहीं बन पा रहा है तो समझना चाहिये
कि अभी साधना तो दूर, साधना की भूमिका भी नहीं बन पाई है।

राजनांदगांव

९ व १० सितम्बर

## अपराध और उसकी स्वीकृति

अपराध की भावना पूर्वक सहज स्वीकृति अपराध प्रवृत्ति को अनबुझा बना देती है। अपराध हो जाना एक सामान्य संघटना है। किन्तु बिना किसी बाह्य भय के अपराध को अपराध रूप में स्वीकार लेना अपने आप में एक महत्वपूर्ण विशेष संघटना है। अपराध तभी स्वीकारा जा सकता है, जब कि अपराध प्रवृत्ति की बीभत्स्ता एवं हेयता को समझ लिया जाय। यदि अपराध को कुत्सित एवं गर्हित मान लिया तो निश्चित, व्यक्ति अपराधी प्रवृत्तियों से बचने का भरपूर प्रयास करेगा। अस्तु अपराध किंवा किसी भी प्रकार के दोष के हो जाने पर उसके परिमार्जन अथवा संशोधन का प्रारम्भिक, किन्तु सबसे सुगम तरीका है, अपराध स्वीकृति और उसका दूसरा चरण है, अपराध से परहेज के प्रति सजगता।

**राजनांदगांव**
११ सितम्बर

## सांचे में ढली व्यवस्था

अज्ञान मूलक एक निश्चित अथवा व्यवस्थित बँधे-बँधाए सांचे में ढलने वाला मानव एक गोपाल द्वारा नियन्त्रित गो समूह से अधिक क्या विकास कर पाएगा ? चूंकि तथाकथित मार्ग एक बँधी-बँधाई नियमावली का अनुसरण मात्र है, जहां तीव्र प्रतिभा सम्पन्न एवं मन्द बुद्धि सभी मानवों को इस नियमावली रूप सांचे के अनुसार ही गति करना होगा और ऐसी स्थिति में विकासशील व्यक्ति को भी अपनी गति को मन्थर एवं विपरित दशा में करनी होगी। क्योंकि उसे भी उस सांचे के अतिक्रमण का कोई अधिकार नहीं है। व्यक्तियों की भूमिका, प्रतिभा एवं मन: स्थिति के अनुसार यदि उन्हें सम्यक् विकास के अवसर उपलब्ध हों, तो वे उस पशु-वृत्ति के सांचे के कुछ ऊपर उठ पाएं एवं अपने विकास के प्रतिमानों को नई दिशा दे सकें।

**राजनांदगांव**
१२ सितम्बर

## बचकानी बुद्धि

हमारी बुद्धि का यह कितना बचकाना पन है कि हम थोड़े से प्रशंसात्मक शब्दों को सुनकर प्रयोक्ता को हितैषी अथवा अनुग्राहक समझ बैठते हैं और सामान्य-सी समालोचना करने वाले के प्रति तुरन्त विरोधी होने का निर्णय ले लेते हैं। यह निर्णय असत्य भी हो सकता है। यदि कुछ गहराई में प्रवेश करेंगे तो उपर्युक्त निर्णय पूर्ण असत्य ही सिद्ध होगा। क्योंकि प्रत्यक्ष में प्रशंसा के पुल बाँधने वाला वास्तव में हितैषी नहीं, हमारे विकास का एक छिपा हुआ सभ्य दुश्मन है और समालोचक विकास की बाधाओं को चुन-चुनकर दूर करने वाला होता है, जिसे हम ऊपरी दृष्टि से बाधक समझ रहे हैं। अतः सामान्यतम शब्दों के आधार पर किसी के प्रति कुछ भी धारणा बना लेना बचकाना पन ही है।

राजनांदगांव
१३ सितम्बर

## सच्ची हितैषी

यह स्मरण रखने योग्य है कि अनुग्रह-दृष्टि रखने वाला व्यक्ति हमारे समक्ष कभी प्रशंसात्मक शब्दावली का प्रयोग नहीं कर पाएगा और यदि कोई निरन्तर प्रशंसा में संलग्न है तो निश्चित समझिये कि वह कहीं न कहीं ईर्ष्या से भरा हुआ है। अनुग्रह-दृष्टि वाला व्यक्ति हमें निरन्तर अपनी असावधानियों के प्रति सजग करेगा। यह आम मानस की ज्वलंत भूल है कि वह प्रशंसक को अनुग्रह करने वाला और शुद्ध समालोचक को अहितैषी मान लेता है। जबकि स्थिति इससे ठीक विपरित होती है। वास्तव में आज का हमारा समूचा चिन्तन ही विपरीत दिग्गामी हो गया है; हिताहित एवं हितैषी-अहितैषी की समझ खो गई है। जीवन के सामान्य व्यवहार में भी हम इस विषय में अपने प्रति सजग नहीं रह पाते हैं तो अध्यात्म के विषय में तो कहना ही क्या !

राजनांदगांव
१४ सितम्बर

चारणीय है कि कदाचित् कोई देव शक्ति समक्ष आकर उपस्थित जाए और हमें स्वेच्छित वर माँगने को प्रेरित करे, तो हम क्या माँग । सम्भवतः हमारी अल्प बुद्धि अपने कार्यक्षेत्र में सफलता का एक ा-सा वरदान मांगकर चुप हो जायगी । आधुनिक जन-मानस की ात नहीं है, हम पौराणिक आख्यानों को उठाकर देखें, वहाँ भी ानों की याचनाओं में स्वार्थों की ही प्रमुखता निहित दिखाई देती किसी भी भक्त ने वरदान प्राप्ति के समय परमार्थ का विचार नहीं ा, सभी अपनी तुच्छ कामनाओं से ही अभिप्रेरित रहे । यदि कोई ता तो व्यक्तिगत स्वार्थों को तिलाञ्जलि देकर लोक कल्याण की भावना भी प्रदर्शित कर सकता था ।

प्रथम तो शाप एवं अनुग्रह की वरदानात्मक कल्पनाएँ ही असंगत सित होती हैं । कदाचित् उनकी सत्यता को स्वीकार कर भी लिया , तो अनुग्राहक ने एक व्यक्ति पर ही क्यों अनुग्रह किया ? क्यों नहीं की अन्तश्चेतना में सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण की भावना अद्- हुई ? जिसमें इतनी सामर्थ्य हो कि इच्छित फल प्रदान कर सकता वह क्यों नहीं दया से द्रवित हो परमार्थ के क्षेत्र में कूद पड़ता है ?

वरदान मांगने वाले भी सदा इतनी निम्न वृत्ति के रहे कि उन्हें ने अथवा अपने परिवार के हित ही दिखाई दिये । किसी भी दैविक क के अनुग्रह पर यदि याचक चाहता तो मांग सकता था कि 'संपूर्ण ी पर शांति का साम्राज्य स्थापित हो जाए, प्राणिमात्र आनन्द के ार में डुबकियाँ लेने लगे ।'

**राजनांदगांव**

१५, १६ व १७ सितम्बर

# श्वास की मशीन

आज का जन-जीवन, लगता है, एक श्वास अथवा धड़कन की मशीन मात्र रह गया है। मशीन तो शायद अपने उद्देश्य में सफल भी हो जाती है, किन्तु इन्सान उसमें भी सदा अधूरा रहता है। एक सीमेन्ट फेक्ट्री को अपनी नियमित गति के अनुसार यदि हजार अथवा पांच सौ टन माल एक दिन में निकालना है तो वह सम्भवतः अपने सीमित उद्देश्य को पूरा कर लेगी। किन्तु इन्सान! बहुत कठिन है इन्सान के लिये अपने उद्देश्य की पूर्ति कर पाना। इन्सान का ऐसा कोई उद्देश्य ही नहीं बन पाता है, जहां तक कि वह पहुंच पाए। अब हम इन्सान को मशीन कहें या मशीन को इन्सान? प्रश्न जटिल है और समाधान चाहता है, आज के दौड़ते हुए इन्सान से।

राजनांदगांव
१८ सितम्बर

# मृत्यु का साक्षात्कार

आज प्रात: एक सज्जन ने समाचारों से अवगत कराया 'ईरान में भूकम्प से हजारों व्यक्ति एक साथ मारे गये ! पन्द्रह हजार शव तो प्राप्त हो चुके हैं ...' हृदय को एक गहरा झटका लगा। हजारों व्यक्ति एक साथ काल कवलित और मानव तब भी उसी भौतिक आवरणों के दुशाले ओढ़े सोए हुए हैं। शायद वे सोचते हैं मृत्यु किसी दूसरे के लिये हैं, उनके लिये नहीं। बड़ी अजीब मन: स्थिति है उनकी ? न जाने क्यों वे अपनी मृत्यु से आश्वस्त: से बने रहते हैं बस यही तो प्रमत्त। भाव, मोह तन्द्रा अथवा स्वप्निल आनन्द है और इसीलिये प्रभु महावीर को कहना पड़ा- 'खणं जाणाहि पण्डिए' हे भव्य प्राणियों क्षण-समय के मूल्य को समझो। काल-समय किसी के द्वारा अनुबन्धित नहीं है। यह प्रत्येक व्यक्ति–पदार्थ के परिवर्तन का समान नियामक है।

आम तौर पर हम न जाने कितनी ऊंची वैचारिक हवाई उड़ाने भरते रहते हैं, किन्तु कर्म प्रकृति का एक लघुतम झटका गगन चुम्बी अरमानों को क्षणभर में धाराशायी कर देता है। हमारी तमाम अभी-प्साएं धरी रह जाती है और वे एक उच्च आदर्शात्मक स्थिति से पद-च्युत होकर न जाने पतन की कितनी गहरी खाई में ढकेल दिये जाते हैं।

ईरान की भूकम्प-जनित दुर्घटना कोई एकांकी अथवा विलक्षण इकाई नहीं है। इतिहास ऐसी संख्यातीत घटनाओं की कड़ियों से ही शृंखलित हुआ है। कर्म की विचित्रता ने मर्यादित क्षेत्र की समग्र जन-चेतना को सम्पन्नता की अतुल ऊंचाइयों से खदेड़कर विपन्नता की गहरी खाई में धकेल दिया है किन्तु फिर भी जनता सजग हो तब तो।

**राजनांदगांव**

१९ व २० सितम्बर

# कर्म गति

खेत में खड़ी लहलहाती फसल को देखकर कृपक का मन वल्लियों उछल रहा है। उसके रोम-रोम से वड़ी प्रसन्नता टपक रही है। वड़ी आशाभरी दृष्टि से देखता है अपने खेतों को, और सोचता है, इस वर्ष सबसे अच्छी फसल हुई है। लड़की के हाथ पीले कर दूंगा। सेठजी का कर्ज चुकता कर दूंगा। वच्चों के लिये सलीके के कपड़े सिलवा दूंगा""लोग भी फसल देखकर प्रशंसा के पुल बांध रहे हैं और वह भी वड़े गर्व से कहता है कि 'कितनी मेहनत की है, इस वर्ष वीज और खाद भी कितना बढ़िया डाला है? तभी तो खेत लहलहा रहा है।""पर यह क्या, अचानक खेत पर मेघ मण्डरा जाता है और ओलों की बौछार से सारी फसल चौपट हो जाती है। समस्त आशाओं पर तुषारापात हो जाता है। अब उसके समक्ष हाहाकार, रुदन एवं ईश्वर-भर्त्सना के अतिरिक्त कुछ नहीं रहता है। इसे कहते हैं कर्म फल भोग।

राजनांदगांव
२१ सितम्बर

# साधना अर्थात् सरलता

आज के इस आधुनिक परिप्रेक्ष्य में साधना का मार्ग, जिसे अत्यन्त सुगम होना चाहिए, वह एकदम जटिल बनता जा रहा है। भौतिक वातावरण से प्रभावित हो साधक किं कर्त्तव्य विमूढ़सा बन रहा है। साहजिक यौगिक क्रियाओं का स्वरूप नहीं समझ पा रहा है, जो साधना के मूल अंग हैं। परिणाम स्वरूप वह उद्देश्य से भी विचलित हो जाता है। अच्छे से अच्छे साधक से भी साधना के आशय के विषय में पूछा जाय तो शायद आम उत्तर होगा–प्राणायाम करना, योगासन करना, पूजा–पाठ करना, माला जपना आदि ही साधना है। जबकि ये सब साधना के बाह्य रूप हैं। उसका आंतरिक रूप इन सबसे भिन्न है और वह है भीतर प्रवेश।

साधना का तो सीधा सा अर्थ है सम्पूर्ण जटिलताओं एवं चित्त की वक्रताओं से मुक्त होना। और उसके लिये हमें पूर्ण सहज होना होता है। विचारों का टेढ़ा-मेढ़ापन समाप्त हो जाए और जीवन को सहज रूप से जीने की कला आ जाए। जहाँ किसी प्रकार का दुराव-छिपाव अवशेष न रहे और न कुछ प्रदर्शन-दिखावे की प्रकृति ही शेष बचे, वहीं साधना सहज फलित होती है।

वर्षों बीत जाते है, साधना करते-करते, किन्तु चित्त सहज नहीं बन पाता है, तो मानना होगा, वह साधना नहीं, साधना का आवरण-ढोंग मात्र रहा है। साधना की पर्याप्त लम्बी अवधि व्यतीत हो जाने पर भी यदि चित्त वृत्तियों में वही वक्रता है, तो उसे साधना कतई नहीं कहा जा सकता है। साधना का प्रदर्शनात्मक रूप भले ही कम हो, किन्तु शुद्ध साधक के लिए आन्तरिक परिष्कार नितान्त आवश्यक है।

**राजनांदगांव**

२२, २३ व २४ सितम्बर

## साधना का रस

आम तौर पर साधना रस प्रद नहीं, रसहीन होती है। इसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि वह आज के लिए नहीं, कल के लिये होती है, वर्तमान के लिये नहीं, भविष्य के लिए होती है। प्रायः साधक दृष्टि में 'आज' का महत्व भी 'कल' के कारण ही है, शायद इसलिए साधना कर रहे हैं कि 'आज' इस जन्म में नहीं, अगले जन्म में अवश्य एक विशिष्ट उच्च स्थिति को प्राप्त कर लेंगे। वर्तमान का कोई मूल्य हमारी दृष्टि में नहीं है।

जबकि साधना होती है वर्तमान में, वर्तमान के लिये। साधना का अर्थ है, सहज आनन्द में जीना और वह वर्तमान में ही हो सकता है।

राजनांदगांव
२५ सितम्बर

## जीवन बनाम पर चिन्ता

न जाने क्यों दूसरे की चिन्ता में ही हम दुबले होते चले जाते हैं? यदि हम निरन्तर दूसरों के विषय में चिन्ता न करें तो हमें लगता ही नहीं कि हम चिन्तनशील या सचेतन हैं। दूसरों के हमारे बारे में क्या विचार है, यह जानने के लिये जैसे हम विशेष आतुर रहते हैं, वैसे ही हम दूसरों की सब प्रकार की जानकारी पाने को आतुर रहते हैं, जबकि इसका हमारी जीवन-साधना से कोई दूर का भी रिश्ता नहीं है। हम स्वयं को विस्मृत कर दूसरों के विषय में ही अधिक सोचते हैं और उसी की चिन्ता हमें दिनरात सताए जाती है। अमुक व्यक्ति, समाज, सम्प्रदाय या राष्ट्र ऐसा है, उसके ऐसे कुत्सित विचार हैं, यही हमारे चिंतन का मुख्य मुद्दा है। पर क्या प्रयोजन है इन सबसे हमको। हम स्वयं को ही देखने का प्रयास क्यों नहीं करते! इसीलिये भारतीय महर्षियों ने कहा है 'आत्मानं विद्धि।'

राजनांदगांव
२६ सितम्बर

# बहिर्मुखी जीवन

आज का जन जीवन बहिर्मुखता की ओर अधिक गतिशील है। उसका आन्तरिक जीवन बिलकुल रिक्त होता जा रहा है और प्रयास भी कुछ इसी प्रकार का हो रहा है। हमारे बहिर्मुख होने का मुख्य कारण है– अपने बारे में अनुकूल मत बनाने अथवा बने हुए को यथावत् स्थिति रखने के लिये, अथवा अन्य लोग हमसे बड़े नहीं है, यह प्रमाणित करने के लिए हम सतत् चेष्टाशील रहते हैं। इसके लिए बड़े-बड़े ग्रन्थों अथवा आप्त पुरुषों का आश्रय लेते हैं और उनकी पूजा करते हैं। इस प्रवृत्ति में शिष्टता और सत्ता की पूजा का नग्न अथवा सूक्ष्म रूप पैदा होता है। बस इसी कारण हम अधिकाधिक बहिर्मुख होते चले जाते हैं। जब तक क्षुद्रतम प्रतिष्ठाओं का व्यामोह हमारे पीछे लगा हैं, हम अन्तर्मुखी कतई नहीं बन सकते।

**राजनांदगांव**
२७ सितम्बर

# अहं त्याग ही त्याग

उस बाह्य जगत का त्याग करना सामान्यतः बहुत सहज है, जिसमें सम्पत्ति, सुख-सुविधा एवं पारिवारिक जिम्मेदारियाँ है। यह त्याग, मानव के लिए सम्भव है। किन्तु कठिन त्याग तो उस वृत्ति का विसर्जन है- जिसमें किसी न किसी प्रकार के बड़प्पन प्राप्त करने की एक दुर्दम-नीय आकांक्षा छिपी हो। यदि उस बड़प्पन को पाने के लिए ही बाह्य त्याग करते हैं तो वह सच्चा त्याग नहीं, यह तो एक व्यापार है, जिसमें थोड़ा लगाकर बहुत पाने की प्यास है। प्रतिष्ठा की हविश का त्याग करने के लिए एक विशेष कोटी की प्रज्ञाशीलता और दार्शनिकता की अपेक्षा रहती है। इतनी सूक्ष्म प्रज्ञा जागृत हो जाए की जहाँ त्याग के 'अहं' का भी त्याग हो जाए—वहीं त्याग आत्म शुद्धि के लिए फलित होता है। अन्यथा यह भी एक प्रकार की आत्म—प्रवञ्चना ही कहलायेगी।

राजनांदगांव
२८ सितम्बर

## सम संवेदन

हजारों हजार ग्राहकों के समक्ष प्रतिदिन असत्य भाषण करने वाले व्यापारी को अपने समक्ष अपने बच्चे का असत्य बोलना असह्य हो जाता है, पचासों महिलाओं के साथ दुराचार करने वाले धनपति को अपनी पुत्री को किसी का बुरी नजर से देखना खलता है। क्या इसे हम सम-संवेदन किंवा आत्म-संवेदन कह सकते हैं ? क्या उसे सजग चेता अथवा स्व केन्द्रित कहा जा सकता है ? कथमपि नहीं। पर प्रश्न जटिल है कि ऐसा क्यों होता है ? जो व्यक्ति अपनी पुत्री अथवा बहिन पर किसी की कुदृष्टि सहन नहीं करता, वह स्वयं इतना बुरा क्यों हो जाता है ? प्रश्न जितना जटिल है उत्तर उससे भी अधिक जटिल है। व्यक्ति में स्वात्म बोध जागृत नहीं हुआ है, वह स्वकेन्द्रित नहीं बना है।

**राजनांदगांव**
२९ सितम्बर

## त्याग के अहं का त्याग

एक व्यक्ति सम्पत्ति छोड़ सकता है, आलीशान बंगला एवं कार छोड़ सकता है निरा अकिंचन बन सकता है—बाह्य जीवन में, भौतिक स्तर पर। किन्तु सम्भव है, मन से वह उनसे अधिक संश्लिष्ट हो। क्योंकि वह मानता है कि 'मैं इतना बड़ा त्यागी हूं, मैंने भोगोपभोग के साधनों को ठोकर मार दी है, मुझसे बढ़कर और कौन त्यागी हो सकता है ?" बस यहीं आकर वह त्याग एक नये बन्धन का रूप ले लेता है। वह ऊपर का त्याग भीतर का गहरा बन्धन है।

भौतिक जीवन की अकिंचनता यदि मानसिक अहंवादित बन जाती है तो वह त्याग, त्याग नहीं, एक विकृति मात्र है। त्याग का अर्थ—"आन्तरिक अहं का विसर्जन"। जब तक अपनी सम्पत्ति के त्याग का अहं अन्तर में छिपा बैठा है, उसे त्याग कहा ही नहीं जा सकता है। वह त्याग भी उसके अहं का पोषक ही है, अतः वह विकृति है।

**राजनांदगांव**
३० सितम्बर एवं १ अक्टोबर

# गाँधी जयन्ती—सही अर्थ

गाँधी जी ने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की थी। इसका कारण हिन्दुस्तान को स्वराज्य दिलाना ही नहीं है। अपितु इसका मूल कारण है उनका मूलतः आध्यात्म केन्द्रित जीवन। उनका वह आध्यात्म केन्द्रित जीवन बहुमुखी था। वे समाज-नेता थे, राष्ट्र-नेता थे, राष्ट्र-पिता थे और आध्यात्मवादियों के लिए अहिंसा के पुजारी थे। गांधी की आध्यात्म अनुभूति, अनुभूतिभर नहीं थी। वह उनके जीवन के अणु–अणु में व्याप्त थी। वे आध्यात्म–अनुभूति की भाव-भूमि पर खड़े थे। सब में अपनी और खुद में सबकी परछाई देखते थे। इसे हम शास्त्रों की भाषा में "निश्छल हृदय" अथवा "शुद्ध हृदय" कहते हैं। आवश्यकता है-आज गांधीजी की उस आध्यात्म-प्रवाही भावना को साकार करने की। किन्तु सभी राष्ट्र–नेता आज प्रायः उसे मिटाने का ही प्रयास कर रहे हैं। क्या यही है गाँधी जयन्ती।

राजनांदगांव

२ अक्टोबर

# अपना मूल स्वरूप

आज हम जैसे हैं, निरन्तर उससे भिन्न बनने के प्रयास में ही निरत है। हम अपनी मूल स्थिति से सन्तुष्ट नहीं हैं और होना भी यही चाहिए। नित नूतन अभीप्सा के बिना नये द्वार उद्घाटित ही कैसे होंगे। किन्तु इस परिवर्तन से पूर्व हम यह तो समझते कि आखिर हमारा मूल रूप है क्या ? वस्तु स्थिति यह है कि हमें अपने मूल रूप का आभास ही नहीं हुआ है। अतः हम नूतन स्वरूप की खोज में भटकते रहते हैं। हम अपने आप में हैं क्या ? यह समझे बिना हमारी अभीप्सा केवल हवा महल-सी ही होगी। हमें अपनी मूल स्थिति का यथार्थ बोध हो जाये, तो परिवर्तन की अभीप्सा समाप्त हो जायगी। क्योंकि वही हम हैं, जिसे हम देख रहे हैं। जहां केवल द्रष्टा-भाव बच जाता है, वहां नूतनता–पुरातनता, परिवर्त्य–अपरिवर्त्य जैसी स्थिति विलीन हो जाती है। क्योंकि ये अवस्थाएं जड़-चेतन मिश्रित धर्मी हैं किन्तु द्रष्टाभाव में चेतना ही बच जाती है।

**राजनांदगांव**

२ अक्टोबर

# मानव जीवन कितना सस्ता

आगम वाक्यों का आधार लेकर बहुधा हम यह कहा करते हैं कि मानव जीवन सर्वाधिक महत्वपूर्ण जीवन है, इसी के द्वारा परम साध्य की उपलब्धि हो सकती है, आदि। किन्तु अपने वर्तमान कृत्यों की ओर दृष्टिपात करें, तो लगेगा इससे सस्ती दुनिया में और कोई वस्तु है ही नहीं। व्यक्ति चन्द कागज के टुकड़ों के लिये अथवा धरती के छोटे-छोटे टुकड़ों के लिये सम्पूर्ण जीवन को खतरे में डालने को तत्पर हो जाते हैं।

विचारणीय है, मानवीय दृष्टि में उन कागज के टुकड़ों का मूल्य अधिक है कि इस जीवन का? जीवन को दुर्लभ अथवा महत्वपूर्ण कह देना या घोषित कर देना अलग बात है, क्योंकि यह ऊपरी अथवा सैद्धान्तिक समझ से भी हो सकता है। किन्तु वास्तव में इसे महत्वपूर्ण के रूप में जी लेना अलग ही बात है।. आज व्यक्ति ऊपरी समझ से ही बोलते हैं कि मानव जीवन बहुत महत्वपूर्ण है।

राजनांदगांव

३ अक्टोबर
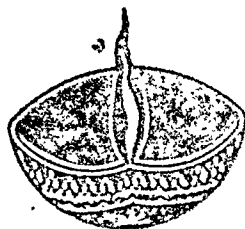
## संकल्प की पुनरावृत्ति क्यों ?

विचित्रता के इस अध्याय को भी देखना चाहिए। नियम, प्रतिज्ञा और संकल्प के साथ हम कुछ त्याग कर सकते हैं, संकल्प लेकर। त्याग करने का आशय तो यही है कि त्याज्य को जीवन से तिरोहित कर दिया गया, संकल्प द्वारा उसका श्राद्ध कर दिया गया। किन्तु संकल्प और प्रतिज्ञा को पुनः पुनः दुहराते चलने का विधान है। संकल्प का कुल्हाड़ा बार-बार मारने का तो अर्थ यही निकलता है कि संकल्प धारदार नहीं है, उसका प्रहार प्रभावी नहीं है, अथवा कि त्याज्य को जड़ से नहीं काटा जा रहा है, उसके प्रति निर्मोही नहीं बना जा सका है। शायद हाथ प्रहार करता है और आसक्ति उसकी हिफाजत करती है। त्याग यदि सफल हो जाय, तो बार-बार संकल्प की चाँदमारी क्यों ? त्याग की सफलता के साथ ही संकल्प का श्राद्ध पूर्ण हो जाना चाहिये। किन्तु विडम्बना है कि भोग से मुंह मोड़कर भी रस की रक्षा करली जाती है।

**राजनांदगांव**
४ अक्टोबर

# साधना बनाम कर्म जाल

इधर साधना के कई नये प्रयोग चल रहे हैं। आधुनिकता का तकाजा है कि साधना को सरल, वैज्ञानिक और सुविधापूर्ण पद्धतियों में बांधा जाय। दुरूहता को अलौकिकता के अतिरिक्त और कुछ मानने का मानस अब कार्य निवृत्त होने लगा है। प्राचीन पद्धतियाँ साधना को ही केन्द्रीय प्रयोजन तथा शेष कर्मजाल को साधन बना डालती हैं। आधुनिकता चाहती है कि साधना को भी कर्मजाल का एक अध्याय बना लिया जाय। आधुनिकता कहती है, जो सुगम नहीं है, वह वैज्ञानिक नहीं है। यदि ये परीक्षण किसी सुन्दर निष्कर्ष और परिणति पर पहुंचे, तो स्वागत-योग्य ही रहेंगे। इस तर्क को बल देने के लिए तथाकथित सिद्ध लोग भी खड़े हो गये हैं और देश में सिद्धपीठों की भी भरमार हो गई है।

उपलब्धियां भी प्रकाश में आ रही हैं। सिद्धपीठों से विजय श्री लेकर आने वाले साधक अपनी सिद्धावस्था की तुलना गांजा, अफीम, चरस तथा एल एस. डी आदि से प्राप्त मनःस्थिति से कर रहे हैं और देश से लेकर विदेश तक के साधक गुह्यता, गुरुडुम और दुरूहता के मुकाबले में चिलमें खरीदने लगे हैं। जिन्होंने दुरूह साधनाएं की हैं, वे इनकी स्थिति को भलीभांति समझ रहे हैं। मानसिक तन्द्रालुता की वह स्थिति मन की अस्थाई बेहोशी है, जिसमें एक बार मानसिक तनाव से मुक्ति मिल जाती है। किन्तु जिस साधना को दुरूह कहा जा रहा है, उसके लिए आज की यह सिद्धि प्रथम त्याज्य है। ऋषियों-मनीषियों, बुद्ध, महावीर, गोरखनाथ, कबीर और नानक आदि को सिद्धि तन्द्रालुता नहीं थी। आधुनिकता की समझ यदि इतनी है कि जो अस्थायी तौर पर तन्द्रालु है, वह साधक है, और जो स्थायी तौर पर (तन्द्रालु) पागल हो गया वह सिद्ध-बुद्ध हो गया, तो इस समझ से परहेज पहली आवश्यकता होगी।

महर्षि पतंजलि की चित्त-वृत्तियों के निरोध की प्रेरणा, गीता

के आत्मस्थ होकर द्रष्टाभाव पर आरूढ़ रहने का संदेश और जैन साधना का जागरूकता का आग्रह नय दृष्टि से प्राय: एक ही स्थिति के विभिन्न वाच्य हैं। राग-द्वेष की प्रशांति से उपलब्ध स्थिति को समत्व कहा गया है। जैन साधना का समता-दर्शन उसी स्थिति का वाचक है।

**राजनांदगांव**
६ अक्टोबर

## स्खलना अनावश्यक पौध

**जी**वन में स्खलनाएं आम व्यक्ति से होती है। किन्तु स्खलना हो जाना और पुन: पुन: उनका पुनरावर्तन होते रहना, स्खलनाओं के प्रति उपेक्षा भाव को निर्मित करता है और जब स्खलनाएं उपेक्षित होती है तो वे निरन्तर बढ़ती जाती हैं। फसल के मध्य उत्पन्न अनावश्यक पौध अथवा घास की उपेक्षा फसल को चौपट कर देती है, ठीक उसी प्रकार स्खलनाओं की उपेक्षा साधना की फसल को ही चौपट कर देती है।

**राजनांदगांव**
७ अक्टोबर

## साधना का आय-व्यय

**व्या**पार के क्षेत्र में सन्ध्या एकाउन्ट मिलाते समय सम्भवत: अवश्य विचार करते हैं कि कल की अपेक्षा आज आय के स्रोत बढ़े हैं। किन्तु साधना के क्षेत्र में इस नियम को प्राणी सर्वथा भूल जाते हैं। मानव शायद ही कभी यह सोच पाते हैं कि साधना में कल की अपेक्षा आज कुछ प्रगति हुई है कि नहीं। जब तक कल की अपेक्षा आज कुछ नया नहीं लग रहा है, उसे साधना में प्रगति कैसे कह सकते हैं!

**राजनांदगांव**
८ अक्टोबर

## परस्थ चित्त

वह व्यक्ति हमसे बहुत अधिक एवं लम्बे अर्से से परिचित है और आज सहसा पांच मिनिट के लिए मिलकर चला गया। किन्तु मन क्यों उसकी अनुपस्थिति में भी कुछ क्षणों तक उसी के प्रति सक्रिय हो उठा है? प्राचीन परिचय के बावजूद भी हमारा उससे कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। तथापि हम उसकी अच्छाइयों अथवा बुराईयों पर क्यों चिन्तन करने लग जाते हैं? क्या इससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि हमारा चित्त स्वस्थ कम परस्थ अधिक है? जितना हमारा चिन्तन किसी दूसरे के जीवन पर होता है, उसका शतांश भी 'स्व' पर नहीं हो पाता है। क्या इस प्रवृत्ति को सुध्यान की संज्ञा दी जा सकती है? चिन्तनीय है, हमारा सुध्यान कितने क्षणों तक होता है?

राजनांदगांव

९ अक्टोबर

## धर्म अर्थात् स्व में प्रतिष्ठा

धर्म को सामाजिक रीति-रिवाज अथवा सामान्य से नैतिक नियमों के साथ सम्बद्ध कर लेना अपने आप में धर्म की अवमानना है। धर्म का सम्बन्ध केवल ऊपरी व्यवहारों से नहीं, अन्तश्चेतना से है। आज धर्म एक विनोद का विषय बन गया है। इसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि आज धर्म की समझ बहुत स्थूल रूप से ही रह गई है। धर्म या तो कुछ रीति-रिवाजों के साथ जुड़ गया है या कुछ बाहरी व्यवहारों के साथ। वस्तुतः यह धर्म का परिवेशात्मक रूप ही है। धर्म का आन्तरिक रूप तो है 'स्व' का 'स्व' में परिगमन, दिखाऊपन से सर्वथा ऊपर, जहां परिवेश एवं व्यवहार एक दम गौण हो जाते हैं। केवल 'स्व' ही बचता है। फिर बाहर की लीनता का प्रश्न ही नहीं उठता है। क्योंकि वहां केवल स्वलीनता बचती है।

राजनांदगांव

१० अक्टोबर

## संयम-साधना : अर्थ सन्दर्भ

संयम एवं साधना शब्द वैसे पर्यायवाची ही माने जा सकते हैं, किन्तु हममें से अधिकाँश व्यक्ति इन पारिभाषिक शब्दों के लाक्षणिक अर्थ से अनभिज्ञ हैं। किसी सर्वज्ञ वाणी से विपरीत बंधी-बंधाई नियमावली के आधार पर अपने आपको ढाल लेना मात्र संयम-साधना का अभिप्रेत मान लिया गया है। किन्तु वह साधना का वास्तविक रूप नहीं माना जा सकता है। संयम का सीधा-सा अर्थ है- 'स्वयं का स्वयं पर अनुशासन।' और वह तभी फलित होता है जबकि व्यक्ति स्वयं के प्रति पूर्ण रूपेण सजग हो जाए, उसका अपने करणीय अकरणीय का विवेक जागृत हो जाय। ज्यों ही करणीय अकरणी के प्रति जागृति होगी, व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया सजग हो जायगी। बस इस सजगता का नाम ही तो संयम अथवा साधना है।

संयम का एक दूसरा अर्थ है- चित्त का वासना के संस्कारों से उपरत होना। किन्तु इसका भी सीधा सम्बन्ध सजगता से ही है। व्यक्ति स्वयं के प्रति जितना सजग होगा, उतना ही वासनात्मक चित्त के प्रति भी। जिसके प्रति व्यक्ति जाग्रत हो गया है, उसकी हेयता एवं उपादेयता सहज हो जाती है तथा हेय के प्रति त्याज्य-भाव पैदा हो जाता है फिर उसे कुछ भी छोड़ना नहीं पड़ता। उसकी सजगता ही उसे हेय से मुक्त कर देती है। अतः वासनात्मक संस्कारों की हेयता के प्रति साधक जितने सजग होंगे, उनसे मुक्ति उतनी ही सहज होगी। यही संयम का फल अथवा अनिवार्य अंग है।

**राजनांदगांव**

११ व १२ अक्टोबर

# संयम ही जीवन-अन्नं वै प्राणा

जीवन का साधनागत आयाम सिमटता जा रहा है और बाजार का आयाम विस्तार पाता जा रहा है। मानव अपने पौरुष के सारे छोटे-बड़े औजार लेकर बाजार में आ डटा है। बाजार का दर्शन ही जीवन दर्शन बनता जा रहा है। विकारों के उद्वेग और वासनाओं के उत्पात ही जीवन के आकर्षण प्रतीत हो रहे हैं। जिन मूल्यों का बाजार से ताल मेल नहीं बैठता, उन्हें निरर्थक मानकर उछालने की प्रवृत्ति प्रोत्साहन पा रही है। यह प्रवृत्ति मंगलकारी हो अथवा अमंगलकारी, परिस्थितियों की देन यही है।

वासना की ताल पर बहना ही यदि जीवन दर्शन बन जाय, तो स्वभावत: ही संयम और साधना के समस्त बन्धन काट डालने होंगे। आदमी को बाजार की होड़ में बाजी मारनी है, जीने के प्रतिद्वन्द्व में विजयी होना है, तो जीवन के महत् मूल्यों से उसे पीछा छुड़ाना होगा। इसीलिये मानव आज संयम, नियम, आचार और धर्म के निर्देशों को उपहास कर-करके फेंकता जा रहा है। जहां बहने और लुढकने की होड़ लगी है, वहां बोझ-मुक्त होना पहली जरुरत है। बहने और लुढ़कने वाला सहूलियत देखता है। संयम लुढ़कने नहीं देता, अवरोध उत्पन्न करता है।

मानव की बुनावट में सत् चित् और आनन्द है, स्थूल और सूक्ष्म दोनों हैं, किन्तु साथ ही सारी बुनावट में विकारों की आंधियों का भी समावेश है। बहने और लुढ़कने की होड़ में ये आंधियां ही साधन बनेगी-काम, क्रोध, लोभ आदि विशेष उपादेय होंगे। बहाव में विजय के लिये, अगली कतार में पहुंचाने के लिये, निरंकुश विकारों के प्रति निरपेक्ष समर्पण आवश्यक है। जब तक बहाव के प्रति ललक रहेगी, तब तक संयम-नियम को पेचीदगी ही माना जायेगा, अनुशासन को बाधा माना जायेगा। अनुशासित रूप में न तो लुढ़कना संभव है, न बहना।

अत: आज यदि कोई कहे कि 'संयम ही जीवन है तो बात अटपटी

सी लगती है। बाजार के जीवन-दर्शन में साधनागत जीवन दर्शन के मूल्य लागू नहीं होंगे। कुछ समय तक बाजार में भी ये नारे दीखते थे। थोड़ा संकोच और लिहाज रखना पड़ता था। नारों के पट्टों की दुहरी संख्याएँ थी—एक ओर साधनागत जीवन के अर्थ थे, दूसरी ओर बाजार के अर्थ। साधनागत अर्थों के साथ हम आश्वस्त होते थे कि हमारा अपना एक ठिकाना है, बाजार के अर्थों को समर्थन मिलता था कि हम धारा के पारखी हैं। किन्तु पहले अर्थ को खुरच फेंकना आवश्यक हो गया। लुढ़कने वाले का कोई ठिकाना नहीं होता। उत्स से उसे कोई प्रयोजन नहीं रहता, गन्तव्य के प्रति वह वैरागी होता है। अतः ठौर ठिकाने और गन्तव्य के अर्थों को खुरच दिया जा रहा है।

उपनिषत्कार ने कहा "अन्नं वै प्राणा" अर्थात् अन्न ही प्राण है। उपनिषत्कार का आशय था कि प्राण पर संयम के लिये अन्न पर संयम आवश्यक है। यह योग की ध्यान साधना का मुहावरा है। लेकिन बाज़ार ने इस सूक्ति को खींचकर पेट पर फैला दिया—अन्न ही प्राण है, भोजन ही जीवन है। फिर पैगम्बरों के लिए द्वार तो बन्द नहीं हैं। पेटुओं के भी पैगम्बर आ खड़े हुए। उन्होंने इस अर्थ को लोक से परलोक तक व्यापक प्रमाणित कर दिया। आज तो तर्कशील पैगम्बरों की भरमार है। ऐसे-ऐसे मसीहा बाजारों के चौराहों पर आ जमे हैं, जिन्होंने वासना को साधना की प्रथम सामग्री घोषित करके चकाचौंध फैला दी है। लुढ़काव के मसीहों ने लुढ़कने वाले को ललकार दिया है—यही मार्ग है, यही जीवन की विधायिका विधा है। अब फिसलने से बचाव की चिन्ता नहीं है, उसका रिहर्सल करना है।

साधक-जीवन का अनिवार्य पहलू है—संयम। यह जहां साधना के संकल्प का निर्णायक है, वहीं विकास-सरणि का अपरिहार्य अवलम्ब है। संयम को साधन इसलिये कहा गया है कि यह आध्यात्मिक साधना की उच्चतम भूमि तक अनिवार्य होता है। संयम की साधना भी करनी पड़ती है, इसी को साधन की साधना कहा जाता है। वाचिक, कायिक और मानसिक धरातलों पर यह भी क्रमशः सूक्ष्मतर और विराटतर

होता जाता है। साधना की परिपक्वावस्था में अर्थात् समत्व योग की साधना में तो राग और द्वेष को उन्मूलित करना होता है। वहाँ संयम भी सूक्ष्मतम होता है। संयम की परिसमाप्ति सिद्धि में ही है।

**राजनांदगांव**
१३, १४ व १५ अक्टोबर

## परिग्रह–संग्रह : भेदरेखा

परिग्रह, संग्रह से सूक्ष्म होता है। परिग्रह मन की वह वृत्ति है जो संग्रह के रूप में अभिव्यक्ति पाती है। यह भी आवश्यक नहीं कि परिग्रह संग्रह का समानुपाती हो। ऐसा भी होता है कि संग्रह के नितान्त अभाव में भी परिग्रह अतीव तीव्र रूप से जीवित रहता है, और यह भी देखा जाता है कि राशि-राशि संग्रह के उपरान्त भी मानव अपरिग्रही है। अतः अपरिग्रह के लिये मान–दण्ड परिग्रह होता है, संग्रह नहीं। अपरिग्रह अपने प्रारम्भिक चरण में एक वैचारिक क्रान्ति है। किन्तु, जब आम जन की दृष्टि अपरिग्रह तप की तैयारी के लिये वस्तुगत संग्रह तक ही सीमित रह जाती है, तो वह वस्तुओं के भोग से भागना प्रारम्भ कर देता है।

निराहार रहने से भोग की तीव्रता तो शान्त हो जाती है, किन्तु रस बना रहता है। वह रस सूक्ष्म होता है। अपरिग्रही को अपनी तपस्या रस को लक्ष्य करके चलानी होती है। कई बार संग्रहीत अम्बार के बीच भी अपवाद रूप विसर्जन पूर्ण हो जाता है। बहुधा संग्रह की अनुपस्थिति में भी उसकी भाव-सत्ता जीवित रह सकती है। विराटता की प्राप्ति के लिए क्षुद्रता के विसर्जन का आग्रह होता है, संकल्प के उन्नयन के लिए बिखराव के विसर्जन का आदेश है, पुण्य की धारणा के लिए पाप का विसर्जन का विधान है, "स्व" पर अडोल प्रतिष्ठा के लिए पराश्रयी–वृत्तियों को नोच फेंकने की व्यवस्था है। ईश्वरत्व की प्राप्ति के लिए जागतिकता का विसर्जन किया जाता है। किन्तु चित्त में जब

तक भोग की रस-वृत्ति जीवित है, अपरिग्रह पूर्ण नहीं हो सकता, सम्पूर्ण आत्मनिष्ठता आ नहीं सकती। अतः अडिग आत्मनिष्ठता का युद्ध (तप) सूक्ष्म पर ही होता है।

कहा गया है कि अपरिग्रह–अभियान का पहला सोपान विचार क्रान्ति है। संकल्पनिष्ठ विचार अपरिग्रह–साधना की सुदृढ़ भूमिका है। यह भी कहा गया कि इस तप का क्षेत्र भी सूक्ष्म है और इसके साधन भी सूक्ष्म होते हैं। सूक्ष्मता में भ्रान्तियों की अधिक सम्भावना रहती है। विचार क्रान्ति की भूमिका निर्मित करते समय, हम देखते हैं कि प्रायः साधक संकल्प के बदले आग्रह (अथवा दुराग्रह) पर आरूढ़ हो जाते हैं। फलतः वे असंग्रही होते हुए भी प्रायः पूर्ण अपरिग्रही नहीं वन पाते। अपनी परीक्षित साधना–पद्धति, अपने परिमार्जित व्रत, नियम और अपने विचार के प्रति आश्वस्त तो रहना चाहिए, किन्तु उनका दुराग्रह नहीं पालना चाहिए। अन्यथा हम आत्म–श्रेष्ठता की अहं-शृंखला से इस प्रकार जकड़ दिये जाते हैं कि प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। सूक्ष्म के तल पर आत्म-श्रेष्ठता का भाव सबसे घातक संग्रह है। हमें अन्य साधना–पद्धतियों तथा विचारों के प्रति सहिष्णु होना चाहिये। हम उन्हें अपनायें नहीं; किन्तु उनके प्रति असहिष्णु भी नहीं वने। असहिष्णु वनकर हम राग-द्वेष को खुला खेलने की छूट दे देते हैं। मुक्ति देते ही, ये सारी तपस्या और साधना को रौंद डालते हैं। हम साधना के न रहकर संघर्ष के पात्र वन जाते हैं। पद्धति मार्ग भर है, वह लक्ष्य नहीं होती। मंजिल पर पहुंचने के लिये मार्ग का मोह छूट जाना चाहिये। इसीलिये अन्त में विचार के अपरिग्रह की साधना करनी पड़ती है।

मेल जब वस्त्र की शोभा समाप्त करने लगता है, उसे खाने लगता है, तो हम साबुन की मदद लेते हैं। साबुन मेल का शत्रु होने के कारण ही वस्त्र का सहयोगी बनता है। अतः हम मेले वस्त्र में साबुन लगाते हैं। फिर पानी के सहयोग से मेल और साबुन दोनों को हटा देते हैं। यदि साबुन के प्रति मोह-भाव बना रह जाय, तो साबुन और मेल दोनों

हो वस्त्र में रह जायेंगे। फिर साबुन भी मेल का ही कार्य करेगा। इसी प्रकार विचार भी हमारे साधन हैं—साबुन की तरह। एक वार उनके भी अपरिग्रह का व्रत लेना पड़ता है। यह एकांश रूपक है।

**राजनांदगांव**

१६ व १७ अक्टोवर

## संघर्षों का मूल असहिष्णुता

**चा**रों ओर फैले हुए संघर्ष, तनाव अथवा द्वन्द्व के कारणों की खोज करने पर सारा चिन्तन यहां आकर स्थिर हो जाता है कि संघर्षों अथवा तनावों का उद्गम अत्यन्त सामान्य अथवा छिछला-सा होता है। अधिकांश तनावों का उद्भव एक-दूसरे के विचारों को नहीं समझने अथवा अन्यथा रूप से समझ लेने से होता है। किसी व्यक्ति ने हमारे लिए किन्हीं शब्दों का प्रयोग किया, उन शब्दों के शुभत्व—अशुभत्व के आधार जितने वे शब्द नहीं हैं, उतने ग्रहणकर्ता के विचार होते हैं। प्रयोक्ता ने किन्हीं भावों से शब्द प्रयोग किया हो, किन्तु ग्रहण-कर्ता यदि उन्हें सहज रूप से ही ले लेता है, तो संघर्ष अपने आप टल सकता है।

विरोधी अथवा प्रतिद्वन्द्वी के विचारों को भी यदि सहज ढंग से लिया जाए तो संघर्ष ही नहीं टलता, अपितु प्रतिद्वन्द्वी को प्रतिद्वन्द्वीता छोड़ने के लिए भी बाध्य होना पड़ता है। अतः संघर्षों अथवा विरोधों से उपराम पाने का अध्यात्म निष्ठ सहज उपाय है, विरोधी के विचारों के प्रति सहिष्णु वनना। विचार, चाहे कैसे ही तथा किसी के भी हों, हम उन्हें स्वस्थ मनः स्थिति से ग्रहण करने का प्रयास करें। यह एक व्यवहार—कुशलता भी है। तात्पर्य यह है कि हमारे सोचने का ढंग जितना सहज एवं स्वस्थ होगा, सहिष्णु—वृत्ति वढ़ती जायगी और तद् द्वारा तनाव एवं द्वन्द्व सहजतया समाप्त हो जाएंगे।

**राजनांदगांव**

१८ व १९ अक्टोवर

# अनोखा दम्भ

**यदि** कोई व्यक्ति हमारे समक्ष अपनी समस्याएँ, व्यथाएँ अथवा परेशानियाँ प्रस्तुत करता है, तो हम आश्वासन–भरे शब्दों में उसे समझाने का प्रयास करते हैं और साथ ही यह भी कह देते हैं कि "बन्धुवर, चिन्ता किसी भी समस्या का हल नहीं है, चिन्ता से समस्याओं का समाधान नहीं, विस्तार ही होता है। अतः निश्चित होकर कर्म करते रहो, जो होगा सो अच्छा होगा," आदि। किन्तु चिन्तनीय है कि क्या मधुर एवं आश्वासन भरे शब्दों का प्रयोग करने वाले हम स्वयं समय-समय पर समस्याओं एवं व्यथाजनित चिन्ताओं से नहीं घिर जाते हैं? उस समय हम यह भूल जाते हैं कि "चिन्ता किसी भी समस्या का निदान नहीं है।" जब चिन्ता का घेर-घेराव किसी अन्य को झेलना पड़ता है, तब हम स्वयं को सुदृढ़ भूमि पर पाते हैं और बौद्धिक कुशलता द्वारा उसे छूमन्तर करने का दम्भ प्रस्तुत करते हैं। लेकिन जब हम स्वयं शिकार होते हैं, तो उस बौद्धिकता की कच्चाई–परीक्षित हो जाती है। वस्तुतः चिन्ता विवेक से दूर हो सकती है, बौद्धिक पेंतरे बाजी से नहीं? हमारे पेंतरे दूसरों को लाभान्वित नहीं कर पाते, अतः हमारे ऊपर भी लागू नहीं होंगे।

**राजनांदगांव**

२० अक्टोबर

## सम्भाषण की मर्यादा

अत्यन्त प्रियतम व्यक्ति के समक्ष भी विचार–विमर्श, चर्चा–विचर्चा अथवा बातचीत में अधिक सम्भाषण, प्रियत्व अथवा स्नेह का व्याघातक बन सकता है। अतः जिसके प्रति स्नेह और अनुराग हो, उसके प्रति मर्यादाओं का निर्वहन अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा सामान्य-सा शब्द कभी-कभी सामने वाले के हृदय को गहरी चोट पहुँचा सकता है। परिणामतः चिरकाल का स्नेह सूत्र क्षण भर में टूट सकता है।

जीवन व्यवहार के अन्यान्य क्षेत्रों की तरह सम्भाषण में भी मर्यादा, पूर्ण सजगता नितान्त अपेक्षित है अथवा यों कहें–चूंकि जीवन के समस्त व्यवहार सम्भाषण पर ही आधारित हैं, अतः सम्भाषण के प्रति जितनी सजगता होगी, व्यावहारिक जीवन उतना ही सुखद होगा। चन्द शब्दों के माध्यम से व्यावहारिक स्नेह सूत्र को बढ़ाने के लिये शाब्दिक सजगता वरदान सिद्ध हो सकती है।

**राजनांदगांव**

२१ व २२ अक्टोबर

# सुन्दर–असुन्दर : मन की कल्पना

यद्यपि प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ में अपना सौन्दर्य होता है, तथापि उनमें सुन्दरता अथवा कुरूपता का मनः कल्पित आरोप ही मुख्य होता है। अन्यथा इतने विस्तृत सौन्दर्य में एक ही पदार्थ विशेष अथवा व्यक्ति विशेष पर ही दृष्टि क्यों केन्द्रित हो जाती है। सुन्दर-से-सुन्दर व्यक्तियों के समक्ष उपस्थित होने पर भी एक व्यक्ति पर ही, जिसमें कि चटकीला सौन्दर्य ही नहीं, अनुराग का उत्पन्न होना यह सिद्ध करता है कि सौन्दर्य-असौन्दर्य की व्याख्याओं को हमारा मन ही कल्पित करता है। एक व्यक्ति को जिन पदार्थों में सौन्दर्य-सुषमा दिखाई देती है, दूसरे को उसके प्रति घृणा होती है। अतः सौन्दर्य के क्षेत्र में रूप की सुन्दरता नहीं, मन के आरोपों का ही प्रभाव होता है।

**राजनांदगांव**

२३ अक्टोबर

# अनुराग–अन्तरंग भी

यह आवश्यक नहीं कि अनुराग का प्रादुर्भाव किसी ऊपरी सौन्दर्य के कारण ही हो। ऐसा होने पर गुरू के प्रति शिष्य का अनुराग निरर्थक सिद्ध होगा। किसी भी व्यक्ति के प्रति अनुराग का कारण ऊपरी सौन्दर्य नहीं, आंतरिक भाव होता है, जो एक जन्म नहीं, न जाने कितने जन्मों से अनुबन्धित होता है। आज अनुराग अथवा प्रेम के इतना विद्रूप होने का कारण है, केवल चर्म–सौन्दर्य पर ही सुन्दरता का आरोप करना और उसी के प्रति समर्पित हो जाना। वास्तव में सुन्दरता पर होने वाला अनुराग बुरा नहीं है, यदि वह भावात्मक एवं स्वस्थ मनोवृत्ति की उपज हो तथा जीवन–निर्माण से अनुप्रेरित हो। तात्पर्य यह है कि प्रेम अथवा अनुराग का आधार ऊपरी सौन्दर्य ही नहीं होना चाहिये, अपितु उसका आधार आन्तरिक भावात्मक सौन्दर्य होना चाहिये।

**राजनांदगांव**

२४ अक्टोबर

पुरुष की मनोवृत्ति दर्शनप्रिय तो नारी की प्रदर्शनप्रिय होती है। पुरुष चित्त देखने के प्रति अधिक उत्सुक होता है, जबकि नारी चित्त दिखाने के प्रति। इसीलिये तो नारी को अधिक से अधिक श्रृंगार प्रसाधनों की आवश्यकता होती है और विभिन्न साधनों के द्वारा अपने आपको सजाना पड़ता है, बहुत झिल्लीदार बारीक अथवा चुश्त वस्त्रों से अपने अंगों को ढकने का प्रदर्शन करना पड़ता है। किन्तु इसे हम ऊपर से आगत-वृत्ति नहीं कह सकते हैं, हाँ, नारी, नारीत्व से तथा पुरुष पुरुषत्व से ऊपर उठना चाहे तो निम्न चित्तवृत्ति पर नियन्त्रण–संयम प्राप्त कर निर्विकार स्थिति तक पहुंचा जा सकता है। किन्तु आज के परिवेश को देखते हुए यह नियन्त्रण असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

**राजनांदगांव**

२५ अक्टोबर

## उथली श्रद्धा

किसी व्यक्ति के सामान्य परिचय अथवा ऊपरी व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उसके प्रति जो श्रद्धा–भाव बन जाता है, वह अस्थायी ही हो पाता है। क्योंकि जिस रूप में हमने उसे श्रद्धास्पद माना है, उसके विपरीत उसका हल्का-सा आचरण हमारी श्रद्धा को डांवा डोल कर देता है। जबकि उसका व्यक्तित्व उस सामान्य-से आचरण मात्र से एकदम बदल नहीं गया है अथवा सामान्य-सी स्खलना के साथ ही उसका पूरा व्यक्तित्व ही धराशायी नहीं हो गया है। किन्तु ऊपरी व्यक्तित्व से उत्पन्न होने वाली श्रद्धा की भित्ति ही कितनी ठोस होती है ? छोटा-सा धक्का ही उसे धराशायी कर देता है। अतः श्रद्धा वहीं स्थिर होती है, जो श्रद्धेय के ऊपरी व्यक्तित्व पर नहीं, उसके आन्तरिक व्यक्तित्व पर आधारित हो, जिसका सम्बन्ध चेतना से हो, दैहिक व्यापारों से ही नहीं।

**राजनांदगांव**

२६ अक्टोबर

# धर्म का लक्ष्य

धर्म का लक्ष्य है—शान्ति। भगवान महावीर का कथन है—जितने भी अर्हत् हुए हैं और होंगे, सबका प्रतिष्ठान है - शान्ति। जैसे समस्त चराचर प्राणियों का आधार प्रतिष्ठान पृथ्वी है, वैसे ही चेतना का चरम प्रतिष्ठान शान्ति है। संसार के समस्त धार्मिक किंवा आध्यात्मिक प्रयास शांति के लिये ही होते हैं। कितने व्यक्ति वहाँ तक पहुँच पाते हैं, यह एक अलग प्रश्न है। किन्तु आज के तथाकथित धर्मों—पन्थों का लक्ष्य प्राय: धर्म नहीं अधर्म ही हो गया है। क्योंकि धर्म से वही सब कुछ याचित हो रहा है, जो अशांति को बढ़ाता है। सीधे शब्दों में कहें तो धर्म के द्वारा अशांति को खरीदा जा रहा है। अतएव धर्म उपेक्षित होता जा रहा है। यदि धर्म को अपने मूल रूप में ही जीया जाय, तो निश्चित ही वह शांतिप्रद होगा।

**राजनांदगांव**

२७ अक्टोबर

# मन का राग–विराग

न जाने क्यों साधना की उच्च स्थिति में पहुंचा हुआ अस्थिर साधक मन एक सामान्य-से व्यक्ति के प्रति अनुरागपूर्ण बन जाता है तथा उसके मिलने न मिलने जैसी सामान्य क्रियाओं पर अजीब- सी प्रतिक्रियाओं से भर जाता है। क्या साधनारुढ़ चित्त की यह भूमिका है? नहीं। किन्तु, साधक चित्त अपने साधना–काल में अनेकों बार गिरता और उठता है, अनुराग एवं विराग से भरता है। यही आधार है स्वयं को समझाने का।

**राजनांदगांव**

२८ अक्टोबर

## अति भावुकता–हानि कारक

कभी–कभी चित्त इतना भावुक हो जाता है जिसकी कल्पना तक नहीं की जा सकती है। भावुकता–पूर्ण स्थिति में गुह्य एवं अकथ्य विचारों को भी प्रकट कर दिया जाता है, जिनका कि प्रकट करना न तो आवश्यक ही है और न लाभप्रद ही। इसके विपरीत कभी-कभी वे प्रकटित विचार भयंकर हानि अथवा विपत्ति में भी उलझा देते हैं। अतः किसी के भी प्रति अत्यधिक भावुक होना विपत्ति को निमन्त्रण देना है।

**राजनांदगांव**
२९ अक्टोबर

## रूप देखें–स्वयं का

आज रूप चतुर्दशी का पर्व है, और हम रूप देखने को व्यग्र हैं। किन्तु किसका रूप, कौन-सा रूप ? यह प्रश्न अन्तः करण को उद्वेलित कर रहा है। प्रश्न का अध्यात्मनिष्ठ चिन्तन के आधार पर मिलने वाला उत्तर है 'स्वयं का रूप', किन्तु यह उत्तर भी बौद्धिक ही लगता है, क्योंकि यदि स्वयं के रूप को पाने की वास्तव में प्यास होती तो बाह्य पर के रूप पर ही आज तक इन्द्रियाँ क्यों गड़ी रहती। हमें साक्षात्कार करना है अन्तरंग रूप का और हम निरन्तर अनुरक्त हो रहे हैं बाह्य रूप पर ! रूप चतुर्दशी का अर्थ तो है- चतुर्दश गुण-स्थानवर्ती आत्म अवस्थिति के साक्षात्कार की अनुभूतिमूलक दृष्टि का विकास हो और हम बाह्य भाव से सिमटकर अन्तरंग रूप को ही पाने का प्रयास करें।

**राजनांदगांव**
३० अक्टोबर

## दीपावली

विगत दो दिनों से चारों ओर झिलमिलाते हुए हजारों दीप प्रकाशित हो रहे हैं और आज सम्भवतः उनकी रश्मियाँ बहुत अधिक हो जाएंगी, क्योंकि आज दीपमालिका है। किन्तु इस सब ऊपरी माहौल को देखते हुए लगता है, बाहर की जगमगाहट में अन्तर का दीप बुझता जा रहा है। बाहर की सज्जा मानव मस्तिष्क पर इतनी अधिक हावी हो गई है कि उसकी आन्तरिक प्रकाश की पहचान खो गई है। वास्तव में दीपमालिका का पर्व अपनी ऐतिहासिकता में आत्म लक्ष्मी के आह्वान का पर्व है। इस दिन लोकोत्तर दीप हमसे विलग होकर अनन्त ज्योति में लीन हो गया था और हमारे पूर्वजों ने उसे प्रतीकात्मक रूप दिया। आज प्रतीकात्मकता तो नष्ट हो गई और प्रतीकभर बच गए हैं। संक्षेप में कहें तो त्यौहार का मूल उत्स विसर्जित हो गया और उसकी देह मात्र बच गई है।

**राजनांदगांव**
३१ अक्टोबर

# प्रव्रज्या प्रवेश और अब

कल रात्रि का सम्पूर्ण चिन्तन-अपने आप पर ही केन्द्रित हो गया था। दीप मालिका की प्रचलित परम्परा वर्ष भर के आय-व्यय के अनुसार चित्त भी अपनी आय-व्यय का ब्यौरा लगाने लगा। किन्तु वह केवल एक वर्ष का नहीं, साधना के आरम्भिक दिनों तक पहुंच गया। प्रव्रज्या-प्रवेश की घड़ियों से आज की घड़ियों की तुलना करने पर पाता हूं—प्रव्रज्या प्रवेश की स्थिति में एवं आज की स्थिति में साधना की भूमिका में बहुत गहरा अन्तर नहीं हो पाया है। अध्ययन, अध्यापन, प्रवचन तथा परिचय विस्तार में अवश्य प्रगति हुई है। किन्तु, क्या इसे साधना का विकास कह सकेंगे ? साधना का विकास तो होगा बाहर से सिमट कर अन्तर में प्रतिष्ठित होना, जबकि ऊपर की सभी प्रतिक्रियाएं अन्तरंग को गौण रखकर बाह्य का विस्तार करती रही है। साधना सफल तभी होगी, जबकि परिचय विस्तार से बचकर स्व विस्तार का प्रयास हो।

**राजनांदगांव**
१ व २ नवम्बर

# अन्तरंग पुकार

स्वयं की कमजोरियों के प्रति हमारा अन्तःकरण हमें अगणित वार सावधान करता रहता है। किन्तु क्या हम उसकी पुकार को सजगता-पूर्वक सुन पाते हैं? शायद हम उसके सुनने के ऐसे ही अभ्यासी वन गए हैं, जैसे कि मन्दिर के गुम्वद पर वैठने वाले कवूतर मन्दिर के घण्टों की आवाज के अभ्यासी हो जाते हैं। इसलिये उस अन्तरंग आवाज का हम पर कोई प्रभाव अंकित नहीं हो पाता है। यदि कुछ दिन तक ही सजगतापूर्वक अन्तरंग की आवाज को सुनने का प्रयास करें, तो त्रुटियों का पुनरावर्तन सहज ही रुक सकता है। लगता है यह सव लिखते हुए भी कुछ ऐसी आवाज आ रही है, जिसे दवाया जा रहा है। क्योंकि स्वयं की कमजोरियों को प्रकट करना अपने आपमें सहज नहीं है। हमारा सदा यही प्रयास रहता है कि हम कमजोरियों को छिपाए रखें।

**राजनांदगांव**

३ नवम्वर

# सम्पत्ति–अपनी-अपनी

सम्पत्ति की हम क्या परिभाषा करें, वह तो सव की अलग-अलग होती है। आज की आम धारणा अर्थ को ही सम्पत्ति का रूप देती है, किन्तु वास्तव में सम्पत्ति का अर्थ है वयैक्तिक उत्कृष्ट अभिरुचि अथवा परम सन्तुष्टि। ज्ञान एक अलग ही प्रकार की सम्पत्ति है। विद्वान् अपनी इस सम्पत्ति में ही सन्तुष्ट रहता है। उसकी दृष्टि में ज्ञानार्जन हो उत्कृष्ट एवं निरपेक्ष साध्य है।

कीर्तिकामी के लिये कीर्ति–विस्तार ही उत्कृष्ट ध्येय है, तो अर्थार्थि के लिये अर्थ–सम्पादन ही चरम साध्य है।

**राजनांदगांव**

४ नवम्वर

## साधक और धनाधीश

साधक के पास जितना निजी तत्व होता है, एक धनाधीश के पास वह नहीं हो सकता है। क्योंकि साधक के पास अपनी आत्मा है और उसके विकास की सीढ़ियां है, जबकि एक धनाधीश के पास ऐसा कुछ नहीं होता है, जिसे वह अपना कह सके। धन के अम्बार के नीचे उसकी अपनी आत्मा भी तो दब चुकी होती है अथवा वह धन से खरीदी जा चुकी होती है।

**राजनांदगांव**

५ नवम्बर

## मन का वैचित्र्य

एकान्त के क्षण उपलब्ध होते ही न जाने क्यों मन अपने आप पर हंसने को होता है। कैसी विचित्र दशा है, मन की! कितनों से सम्पृक्त–असम्पृक्त होते हुए भी क्षण भर में अपने आपको एकांकी अनुभव करने लगता है यह मन! सम्पृक्तावस्था में यह एकान्तकामी होता है और कुछ ही एकान्त होने पर एक दूसरे के अस्तित्व की कामना के प्रति सक्रिय हो उठता है। किसी एक स्थिति का निर्धारण सम्भवत: मन की सीमा के वाहर का विषय है। कितनी अजीब-सी हरकते हैं, इस चंचल अश्व की। यदि इस पर भी हंसी नहीं फूट पड़ती है, तो मानना पड़ेगा कि हम अपने प्रति सजग ही नहीं हैं। हम हंसते हैं दूसरों की हरकतों पर, जबकि हमें हंसना चाहिये अपने मन: अश्व की हरकतों पर ही।

**राजनांदगांव**

६ नवम्बर

## आज की उपासना

लगता है, हमारी सभी क्रियाओं का मुख्य उद्देश्य खो चुका है। हम कभी एकान्त के क्षणों में चिन्तन करें कि क्यों हम सदा विविध साध्यों, कर्म-काण्डों, तत्फलों एवं तरह-तरह के प्रयत्नों के पीछे लगे रहते हैं ? क्यों हमारा मन किसी संकल्पित-ईप्सित के पीछे दौड़ता रहता है ? इतने धार्मिक अनुष्ठानों के पीछे भी हमारा क्या हेतु है ? क्या इस सबके द्वारा हम कुछ आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं ? किन्तु ऐसा लगता नहीं है। आज तक हम जिन विभिन्न क्रियाकलापों में खेलते आये हैं, उनमें आवद्ध हो गये हैं और उनसे ऊब गये हैं। अतः कोई नया खेल रचना चाहते हैं। बस, यही है हमारी उपासना का क्रम। एक से ऊब और दूसरे की स्वीकृति। किन्तु अब और स्वीकृति का क्रम साधना अथवा जीवन का उद्देश्य सिद्ध नहीं कर सकता है।

**राजनांदगांव**

७ नवम्बर

## साधक और अहं

कितने लघुतम एवं क्षुद्र प्रसंगों पर भी मन अहंकार से भर उठता है, कुछ कहना कठिन है। किसी सामान्य से व्यक्ति से हम प्रशंसित हुए कि हम अपने आपको बहुत उच्च एवं प्रतिष्ठित मान बैठते हैं, जबकि हो सकता है उसकी प्रशंसा एकदम असत्य अथवा छल से भरी हो। किन्तु मन है कि अपने प्रशंसात्मक शब्दों में कृत्रिमता अथवा छलावे की बू को ग्रहण करने अथवा मानने को ही तैयार नहीं होता।

जीवन की सजगता का एक अर्थ यह भी है कि हम अपने प्रशंसक के प्रति भी पूर्ण सजग रहें और तन्निमित्तक अहं से बचने का पूर्ण प्रयास करें। छोटी-छोटी प्रशंसाओं से अहं पर चढ़ने वाला व्यक्ति साधना की मूल भूमिका का भी स्पर्श नहीं कर पायेगा।

**राजनांदगांव**

८ नवम्बर

# विराट् प्रेम

प्रभु महावीर ने 'प्रेम' को अहिंसा का पर्याय माना है। प्रेम के माध्यम से ही मानव की विराटता प्रकट होती है, अभिव्यक्ति पाती है। विशालता और विराटता के वीच भी अन्तर है। विशालता सापेक्ष्य पर आधारित है। विशाल से पृथक कुछ लघु होना चाहिये, और वह लघु ही विशालता को अर्थ देगा। विराटता में यह अपेक्षा-वृत्ति नहीं है। उसमें समाहार क्षमता होती है। लघुता और विशालता दोनों को ही विराटता अपने में समेट लेती है। वैसा ही है प्रेम। वह अणुत्व जीवत्व और ईश्वरत्व सबको अपने में समाहित कर लेता है। अतः प्रेमी बनना विराट बनना है। आत्म-प्रेम ने जहां विराट रूप धारण किया कि अहिंसा अपने-आप सिद्ध हो जाती है। अहिंसा जहां जागृत होती है, वह प्रेम का रूप धारण कर लेती है। अहिंसा की साधना करते-करते प्रेम अंकुरित हो जाता है। अहिंसा का बहुत महत्व है, किन्तु व्यापक प्रेम के रूप में फलित होना ही उसकी सार्थकता है। प्रेम साधना से कम, मुक्ति से अधिक जुड़ा हुआ है। मानव जहां विराट हुआ, कि वह जीवत्व के वन्धन से मुक्त हो जाता है।

प्रेम, ईश्वर और आत्मा का स्वरूप है। एक अंश में ईसामसीह के रूप में प्रेम ही अवतरित हुआ था। प्रेम ही जीवन को पूर्ण वनाता है। ईर्ष्या,द्वेष, काम, लोभ, क्रोध, मद आदि जितने भी आयें,जीवन भर नहीं सकता। वह तो प्रेम से ही सरावोर होता है।

इधर 'प्रेम' शब्द का प्रयोग तो वहुत होने लगा है लेकिन उसकी विराटता लुप्त हो चुकी है। राग की वृत्ति को ही प्रेम समझा जा रहा है। प्रयोग और प्रचलन जितना भी हो, विराटता का लोप होता जा रहा है। यह भी कहा जाता है कि यह सीमित अथवा मर्यादित प्रेम है। किन्तु जिसमें समाहार-शक्ति होगी, वह सीमित नहीं वन सकता। विराटता निरपेक्ष है। उसके विलोम की सत्ता नहीं होती। चित्ति का विलोम नहीं होता, आत्मा का विलोम नहीं होता, ईश्वर का विलोम

नहीं होता। ठीक उसी प्रकार शुद्ध प्रेम का विलोम नहीं होता। घृणा को लोग प्रेम का विलोम मानते हैं। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। विराट् प्रेम निरपेक्ष होता है।

**राजनांदगांव**

९ नवम्बर

## शब्द की शक्ति

शब्द की सामर्थ्य किसी हाइड्रोजन अथवा उद्जन बम से कम नहीं है। एक उद्जन बम निर्माण की दिशा में लगे तो अपनी बहुत कुछ रचनात्मक भूमिका अदा कर सकता है और विनाश में प्रयुक्त वही शक्ति प्रलयंकारी कुहराम मचा सकती है। क्या हम सोच सकते हैं कि शब्दों में इससे कुछ कम शक्ति है ? एक शब्द ही तो है, जो दो आत्माओं को नहीं दो राष्ट्रों को प्रेम के एक धागे में पिरो सकता है और वह शब्द कुछ विपरित अर्थों में प्रयुक्त होकर महाभारत जैसी सैंकड़ों युद्ध-भूमियों का सृजन कर सकता है। व्यावहारिक जीवन में हम देखते हैं कि एक छोटा-सा शब्द भ्रातृ-भाव का घुन बन जाता है, तो दूसरा दो अनजानी आत्माओं को एक प्रेम धारा से सिंचित कर जीवन भर के लिये एक कर देता है।

**राजनांदगांव**

१० नवम्बर

## उपलब्धि लघु–गर्व महान्

कई बार सामान्य-सी उपलब्धियों पर ही हम इतने गर्व से भर जाते हैं–मानों हमने बहुत बड़े किले पर जय पा ली हो। फिर वही गर्व हमें महान् उपलब्धियों से वंचित कर देता है। वास्तव में उपलब्धि कितनी ही महान् क्यों न हो, साधक को उसे सदा सामान्य उपलब्धि ही मानना चाहिए और निरन्तर विकास की ओर बढ़ते हुए नित–नूतन उपलब्धियों के द्वार पार करते जाना चाहिए। तभी विकास की चरम सीमा का स्पर्श किया जा सकेगा।

राजनांदगांव

११ नवम्बर

## संयोग–वियोग

न जाने क्यों सामान्य-से संयोग–वियोग की चर्चा मात्र चित्त को उद्वेलित कर देती है। हम जानते हैं कि संयोग के अनन्तर वियोग अवश्यम्भावी है और साधक–जीवन के लिए तो यह प्रतिदिन का कार्य-क्रम ही है। तथापि सहजतया उद्वेलित चित्त यह स्पष्ट करता है कि लगाव से अलगाव में समता की साधना परिपूर्ण नहीं बन पाई है। अन्यथा संयोग-वियोग की सामान्य क्रिया चित्त को बोझिल नहीं करती।

राजनांदगांव

१२ नवम्बर

## साधक और सम्बन्ध

किसी भी व्यक्ति से शिष्टाचारात्मक अथवा अन्य किसी प्रकार का सामान्य अथवा घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर लेना सहज है, किन्तु उस सम्बन्ध को यथावत् निर्वाहित कर पाना सहज नहीं है। आमतौर पर हम नित नूतन सम्बन्ध स्थापित करने में प्रयत्नशील रहते हैं, किन्तु यह तथ्यपूर्ण सत्य है कि शीघ्रता पूर्वक स्थापित गहनतम सम्बन्ध भी अस्थायी होते हैं। सभी सम्बन्धों की प्रारम्भिक अनिवार्य शर्तों को पूरा कर पाना सामर्थ्य से परे होता है। अस्तु, साधनागत जीवन में तो यह नितान्त आवश्यक है कि किसी भी प्रकार के बन्धनपूर्ण सम्बन्ध से अपने आपको बचाये रखा जाए अथवा उन्हें एक निश्चित सीमा रेखा में ही सीमित रखा जाए, ताकि साधना निर्बाध रह सके।

**राजनांदगांव**

१३ नवम्बर

## साधक और भीड़

बहुत बार भीड़ से घिरे रहना भी महत्वपूर्ण अथवा लाभप्रद हो जाता है। एकान्त के क्षणों में अथवा किसी एक ही अतिप्रिय व्यक्ति की उपस्थिति में मानसिक विक्षोभ सम्भवतः विकृति का अनुगामी भी बन सकता है। अतः सामान्य साधक के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह ऐसे क्षणों से दूर ही रहने का प्रयास करे।

विशेष योग्यता सम्पन्न साधक, चूंकि आकर्षण–विकर्षण के सामान्य प्रभावों से ऊपर उठ जाता है, अतः उसके लिए ठीक इससे विपरीत अवस्था अपेक्षित होती है। उसे भीड़ से दूर एकान्तवास ही अधिक उपादेय होता है, जहाँ वह स्वर्ग की गहराई में डूब सके। तात्पर्य यह है कि साधक की मनोभूमि के आधार पर ही साधना–मार्ग अथवा साधना–स्थल की उपयोगिता–अनुपयोगिता सिद्ध होती है।

**राजनांदगांव**

१४ नवम्बर

## साधक चित्त और भक्ति की जुदाई

अनेक व्यक्तियों के नेत्रों से छलकते हुए अश्रु कण हृदय को भाव-विभोर किये देते हैं। चित्त चिन्तन सागर की गहराई में डूबने लगता है और पाता हूं शायद कुछ आत्माएँ इस आत्मा से जुड़ गई है। किस सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में जुड़ी है, कहना अशक्य है। संभव है गुरु-शिष्य का ही सम्बन्ध हो। किन्तु इस सम्बन्ध की सहजता को नकारा भी तो नहीं जा सकता है। निरन्तर छः माह का सामीप्य एक-दूसरे को कितना निकट ले आता है, इसकी अनुभूति जुदाई के क्षणों में ही होती है। यद्यपि प्रतिवर्ष की घिसी-पिटी अनुभूति के कारण व्यक्तिशः अधिक संवेदित नहीं हुआ, किन्तु भावुक हृदयों की विहलता एवं नेत्रों से टपकता वियोगानुभूति ने चित्त को अवश्य अभिभूत किया है और इसे सहज ही माना जा सकता है।

**कैलाशनगर**
१५ नवम्बर

## स्वयं का मूल्यांकन

भावनाशील व्यक्तियों एवं कभी-कभी विद्वानों तथा बुद्धिजीवियों से भी सम्मान की दृष्टि से देखा जाता हूँ। लोग बड़ा सत्कार करते हैं, बहुत ऊँचा समझते हैं। पर सोचता हूं यह सब क्यों ? क्या हेतु है इस सबके पीछे ? क्या यह सब वास्तविकता है और इसके योग्य पाता हूं अपने आपको ? अनेक प्रश्नों से उद्वेलित होती हुई बुद्धि तलाश करती है, समाधान। किन्तु प्रश्न उलझकर रह जाते हैं। लगता है यह सब क्रिया-प्रक्रिया वास्तविकता से कुछ दूर हैं। सब सम्मान कुछ ऊपरी व्यक्तित्व अथवा विद्वता से अनुबन्धित है। इतनी सब अच्छाईयों के उपरान्त भी यदि एक कोई अशुभतम त्रुटि श्रद्धालुओं की दृष्टि में आ जाए तो सम्भव है, सम्पूर्ण श्रद्धा चरमरा जाएगी और एक क्षण पूर्व का आराध्य, हीन भावनाओं का शिकार हो जाएगा।

**सिंगोला**
१६ नवम्बर

# जीवन एक चक्डोलर

वर्तमान जीवन के सन्दर्भ में अनेकों जिज्ञासाएं प्रस्फुटित होती है। क्या है जीवन, इसे जिया कैसे जाये ? प्रश्न के अनुसार समाधान भी अनेक हो सकते हैं। जीवन एक चार पलड़े वाले झूले के समान है, जिसमें एक ऊपर तो दूसरा नीचे की ओर आ जाता है। ऊर्ध्वाध: गतिशीलता जीवन का क्रम है। किन्तु दोनों स्थितियों में समभावपूर्ण स्थिति का अभ्यास ही जीवन जीने की कला है।

झूलते हुए नीचे के पलड़े में वैठा व्यक्ति निराशा अथवा हीन भावना से भर जाए तथा ऊपर के पलड़े वाला अहं से भर जाए तो दोनों वास्तविकता से पलायन कर जाते हैं। जीवन का वास्तविक आनन्द वही प्राप्त कर सकता है, जो नीचे झुका हुआ भी उर्ध्वगमन की आशा से भरा हुआ होता है।

**फरद्फोड़**
१७ नवम्वर

# हर्ष-शोक क्षणिक

वास्तव में जीवन में आने वाले सुख-दु:ख क्षणिक एवं परिवर्तनशील होते हैं। सामान्य से दु:खद क्षणों के आने पर जीवन को तनाव, अवसाद या निराशा से भर देना, उसे अपने मौलिक आनन्द से वंचित कर देना है। इसी प्रकार हल्के से सुख में अहं में झूम उटना भी वहुत वड़ी नासमझी है। जवकि आमतौर पर हम यही क्रिया करते हैं। परिणामत: हम आनन्दपूर्ण क्षणों को तनावों से भर देते हैं।

**फरद्फोड़**
१८ नवम्वर

## जीवन : सूर्यमुखी पुष्प

हमारा जीवन सूर्यमुखी फूल है, जो सदा प्रकाशोन्मुख रहता है। जीवन का लक्ष्य प्रकाशोन्मुखता है, किन्तु कृत्रिम नहीं। जीवन के मौलिक आध्यात्मिक प्रकाश की ओर बढ़ते जाना ही जीवन का उद्देश्य है और वही उसकी सार्थकता है। इसके लिये आवश्यक है कि हम विपथ गामिनी अन्धकारपूर्ण विसंगतियों से संघर्ष करें और आत्मिक आनन्द प्राप्त करें।

अछौली
१९ नवम्बर

## आशा-निराशा का झूला

आशा-निराशा के झूले में झूलता जीवन बहुत बार ऐसी स्थिति में पहुंच जाता है, जहां उसे आशा-प्रकाश की एक किरण भी दिखाई नहीं देती और उस अवस्था में वह सहसा हतोत्साहित हो जाता है। किन्तु चिन्तनीय है कि क्या मानव सदा एक ही अवस्था में अधिक समय तक बना रह सकता है। हवा के तेज झोंके से झुकी हुई वृक्ष की डाली हवा बदलते ही क्या पुन: ऊपर नहीं उठ जाती है? क्या वही स्थिति निराश जीवन की नहीं है? हो सकता है प्रचण्ड कर्म शक्ति का एक झोंका आया हो, जिसने जीवन की सहज बहती धारा को मोड़ दिया हो, किन्तु हम क्यों भूल जाएं कि पुन: हवा का दूसरा झोंका उससे भी प्रबल आ सकता है, जो हमें पूर्व स्थिति से भी कुछ ऊपर ले जाए?

अछौली
२० नवम्बर

# जीवन-विसंगतियों का मेल

जीवन पूर्वापर विसंगतियों से कितना भरा है, कहा नहीं जा सकता है, और साहस करके कहने लगे तो अपने आप पर हंसी छूटती है। क्षण भर पूर्व के विचारों से उत्तर क्षणों के विचारों की तुलना करने पर लगता है, क्षण पूर्व जो चेतना ऊंचे गगन की सैर कर रही थी, दूसरे ही क्षण भूमिसात् होकर धूमिल हो जाती है। एक क्षण को आदर्शवादी मन यथार्थ की भूमिका का स्पर्श करते ही आदर्शों से कोसों दूर जा पड़ता है। इतनी जटिल एवं विसंगतियों के रहते हुए क्या यह कल्पना की जा सकती है कि हम किसी एक निश्चित उद्देश्य की ओर बढ़ने का प्रयत्न कर रहे हैं? सच तो यह है कि इन विसंगतियों को देखते हुए लगता है, हम किसी एक उद्देश्य का ही निश्चय नहीं कर पाए हैं और कुछ-जीवनोद्देश्य बनाया भी है तो वह उथला है, निश्चित नहीं।

**अछोली**
२१ नवम्बर

# श्रेष्ठता का मान दण्ड ?

कभी-कभी चित्त जन सामान्य से अपनी तुलना करने लगता है और वे क्षण बड़े महत्वपूर्ण होते हैं, जब उस तुलना में चित्त का अहंकार स्वत: विगलित होने लगता है। क्या अन्तर है जन सामान्य में और अपने इस कथित रूप में, जो कि उपास्य बनकर इतना अधिक सम्मान पा रहा है? परिवेश, वाक् चातुर्य एवं कुछ इन्द्रियजय के साथ कष्ट सहिष्णुता के अतिरिक्त कुछ भी तो अन्तर परिलक्षित नहीं होता है। फिर इसे क्या अधिकार है कि स्वयं को उच्च-उपास्य एवं अन्य को उपासक, निम्न माने? क्या उपास्य-उपासक का सम्बन्ध इतना सामान्य है कि केवल परिवेश ही उसका कारण हो? यदि नहीं, तो साधक को कोई अधिकार नहीं कि वह सामान्य जन मानस से अपने आपको श्रेष्ठ माने या प्रमाणित करने का प्रयास करे।

बहुत बार ऐसा भी लगता है कि वर्तमान का साधक मानस बहुत से गृहस्थ—उपासक साधकों के साधनारत मानस की तुलना में कुछ कमजोर सिद्ध होता है। कई साधक अपने साधनागत जीवन में जितने सजग-संयमित नहीं बन पाए हैं, उससे अधिक संयमित कई उपासकों को पाते हैं। कई साधक अपनी इन्द्रियों पर जितना नियन्त्रण नहीं कर पाए हैं, उससे कुछ अधिक ही नियन्त्रण क्रोध आदि वृत्तियों पर कुछ उपासकों में पाया जा सकता है। और यहीं आकर अनन्त द्रष्टा प्रभु महावीर का यह अर्थावान् सूक्त सार्थक होता है कि 'सन्ति एगेहिं भिक्खुहिं गारत्था संजमुत्तरा' अर्थात बहुत से भिक्षुओं से गृहस्थ भी संयम में श्रेष्ठ होता है।

**सम्बलपुर**

२२ व २३ नवम्बर

卐

## निरर्थक चिन्ता

इर्द-गिर्द दृष्टिपात से लगता है कि सम्पूर्ण जनमानस एक
प्रकार की, किन्तु जटिल चिन्ता के जाल में उलझा हुआ है ।
आश्चर्य इस बात का है कि कोई भी व्यक्ति अपने सन्दर्भ में
चिन्तित नहीं, उतना अपने परिपार्श्ववर्ती किसी अन्य के प्रति
एवं व्यग्र बना हुआ है । हमारा अधिकांश चिन्तन अपने पर नही
अन्य व्यक्तियों पर ही केन्द्रित रहता है, हम अपने प्रति जितने
नहीं, उतने दूसरों के प्रति जागरूक रहते हैं । अतएव चिन्ता भी
प्रति अधिक बनती है । किन्तु हमारी वह पर-चिंता निरतवृ
कुछ अर्थ रखती है अथवा उसके द्वारा हम किसी का हित-साध
उसकी उपयोगिता सिद्ध कर सकते हैं !

सम्ब

२४ न

## श्रद्धा का आधार

जिसके व्यक्तित्व से हम प्रभावित होते हैं, श्रद्धान्वित होक
अपना आराध्य मान लेते हैं । क्योंकि हमारी दृष्टि उनके व्यक्त
पर होती है, किन्तु ज्योंही हमारी दृष्टि अपने श्रद्धेय अथवा आरा
किसी एक प्रच्छन्न दोष पर चली जाती है, हमारी सम्पूर्ण श्रद्ध
भर में डगमगा जाती है । आराध्य के संख्यातीत गुण एक ही
प्रवृत्ति के उजागर होने पर न जाने कहां चले जाते हैं और वह
से घृणा-पात्र बन जाता है ।

लो

२५ नव

## देखने का कोण

पृथ्वी पर ऐसा व्यक्ति खोजना बहुत मुश्किल है, जिसमें केवल अच्छाइयां अथवा गुण ही हों, बुराई अथवा दोष एक भी न हो। हो सकता है किसी में लाखों अच्छाइयां एवं एक दो बुराइयां हों अथवा लाखों बुराइयां एवं एक दो अच्छाइयां हों। फिर क्यों हमारी दृष्टि लाखों अच्छाइयों को गौण कर केवल एकाध बुराई पर ही टिक जाती है? यह मानव मन की सहज वृत्ति है कि उसे निन्दा एवं बुराई में रस आता है और इसका भी कारण है कि दूसरों की बुराई में अपने अहंकार को पोषण मिलता है। जबकि दूसरे की अच्छाई का बोध अहंकार पर चोट करता है और अहंकार पर चोट हमारे अस्तित्व को ही हिला देती है।

लोहारा

२६ नवम्बर

## मूल्यांकन का आधार

हम अपने विषय में प्रायः वही धारणा बना लेते हैं, जैसी कि हमारे इर्द-गिर्द घूमने वाले चन्द व्यक्ति हमारे विषय में रखते हैं। चाटुकारितावश अथवा अन्य किसी प्रयोजन से आसपास मण्डराने वाले चन्द व्यक्ति हमें श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, तो हम अपने आपको श्रद्धेय मानने लग जाते हैं। उस समय हम यह विस्मृत कर जाते हैं कि चन्द व्यक्तियों की दृष्टि में हम श्रद्धेय हैं, तो अगणित ऐसे व्यक्ति भी हैं, जिनकी दृष्टि में हम ना कुछ हैं। वास्तव में दूसरों की दृष्टि से अपने आपको मापना बहुत बड़ी भूल है। कोई भी व्यक्ति हमें आदरणीय-श्रद्धेय माने अथवा ना कुछ, हम तो जो कुछ हैं, वही रहते हैं, उससे अन्यथा नहीं हो जाते। हमारा अस्तित्व किसी दूसरे की दृष्टि पर नहीं, अपने आप पर ही आधारित है। हम दूसरों की दृष्टि में क्या हैं, यह महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण है हम अपनी दृष्टि में क्या हैं?

लोहारा

२७ नवम्बर

## स्नेह का आधार अन्तरंग

कई बार किसी अदने-से व्यक्ति पर, जिसमें न कोई आकर्षण होता है और न कोई उल्लेखनीय विशेषता होती है, फिर भी आंतरिक स्नेह-प्यार उमड़ पड़ता है। इसका कोई भी कारण हम नहीं बता सकते हैं। वर्तमान की सम्पूर्ण स्थिति उसके प्रति स्नेह-सी परिलक्षित नहीं होती है, फिर भी अन्तर के कोने से एक स्नेह धारा उसके प्रति फूट पड़ना चाहती है अथवा फूट पड़ती है। ऐसे क्षणों में सहसा पूर्व संस्कारों एवं उसकी स्मृति पर विश्वास करने को बाध्य हो जाना पड़ता है। बिना कारण के कार्य नहीं होता और चूंकि हमें वर्तमान में सशक्त दृश्य कारण नहीं मिलता, अत: किसी अदृश्य की कल्पना पर विश्वस्त होना ही पड़ता है, जबकि किसी अनजाने व्यक्ति पर स्नेह बरसता हो।

**लोहारा**

२८ नवम्बर

## यथार्थ दृष्टि

हम प्रायः कहा करते हैं कि हमें अपने से ही वास्ता रखना चाहिए, हमें दूसरों से क्या लेना-देना जो हम उनके विषय में चर्चा करते फिरें, उनकी अच्छाई एवं बुराई के ढोल पीटते फिरें। पर ऐसा कहते हुए भी हम क्या दूसरों की चर्चा नहीं कर रहे हैं? क्या मौन तोड़कर शब्दों का उच्चारण भर करना ही दूसरों की चर्चा नहीं है? शब्द का जन्म ही दूसरों के लिये हुआ है। अपने अकेले के लिये तो शब्द नहीं, भाव चाहिये और भाव भी नहीं, सब तरह का मौन चाहिये। ज्यों ही हम शब्दों में उलझे कि अपने से भिन्न किसी का अस्तित्व हमारे सामने उपस्थित रहता है अथवा यों कहें कि दूसरे के अस्तित्व का बोध होने पर ही मुंह से शब्द निकलते हैं।

**लोहारा**

२९ नवम्बर

## शब्द प्रयोग क्यों ?

**श**ब्दोच्चारण के उद्देश्य भले ही हम किसी को समझाना, बोधित करना, मनवाना आदि कुछ भी कर लें, किन्तु शब्दोच्चार से पूर्व दूसरे का अस्तित्व अनिवार्य है। अतः यह स्पष्ट है कि जब हम यह कहते हैं कि 'हमें दूसरों की चर्चा से क्या प्रयोजन ?' तब भी हमारा दूसरों की चर्चा से भी कुछ ना कुछ प्रयोजन रहता है। अतः किन्हीं अर्थों में यह कहना असंगत होगा कि हम दूसरों की चर्चा नहीं करते हैं। हाँ, यह हो सकता है कि हम दूसरों की असत् चर्चा न करके उनकी अच्छाइयों पर ही गौर करें। व्यर्थ की चर्चा न करके, कुछ उपयोगी एवं जीवन निर्माणकारी विमर्श में ही व्यस्त रहें, तो वह दूसरों की चर्चा अपनी ही चर्चा होगी, क्योंकि वह स्वहित के लिये है।

**लोहारा**

३० नवम्बर

# अन्तरंग में दबे बीज

क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या एवं वासना के सूक्ष्मतम बीज न जाने कहां दबे रहते हैं कि सामान्य-सा निमित्त पाते ही अंकुरित हो उठते हैं। क्षमा विनम्रता, सरलता एवं अकाम की चिर संचित साधना क्षणभर में तिरोहित हो जाती है। कभी-कभी तो साधक सोचता है कि हमने इन दोषों पर विजय प्राप्त कर ली है, अब हममें क्रोधादि दुर्गुणों का प्रवेश नहीं हो सकता है। किन्तु वह चिन्तन तभी तक स्थिर रहता है, जब तक कि कोई निमित्त सामने उपस्थित नहीं होता है। छोटे से क्रोध के निमित्त पर तथाकथित कई साधक–श्वान की तरह भों–भों करने लगते हैं। छोटा-सा पद मिलने पर अहंकार में बकरे की तरह मैं–मैं करने लगते हैं। किसी निकटतम परिचित की प्रतिष्ठा देखकर ईर्ष्या की आग में जलने लगते हैं। तथा जरा-सी रूप की सुन्दरता पर कामुक हो उठते हैं। क्या साधना का चित्त इतना शिथिल होता है कि निमित्त के एक झोंके में ही उद्देश्य से विपरीत दिशा की ओर गमन करने लग जाय? क्या ऐसा ही मन जीवन–सृजन की साधना में सहयोगी हो सकता है? प्रश्न ज्वलन्त है और उत्तर केवल साधना ही दे सकती है।

आश्चर्य इस बात का है कि लघुतम निमित्त पर वर्षों की साधना और तद् द्वारा अर्जित अनुभव क्यों परास्त हो जाते हैं। १५, २० या ४० वर्ष की साधना क्या एक क्षण में धूमिल हो सकती है? नहीं, वास्तव में उस अतीत के साधना काल में समुचित साधना बन ही नहीं पाई थी, वहां भी कुछ बीज छिपे हुए ही थे।

**लोहारा**

१, २ व ३ दिसम्बर

## आज की दौड़

आज की सम्पूर्ण दौड़—क्या अपने क्षुद्रतम अहम् के सम्पोषण हेतु नहीं है ? विद्यार्थी, व्यापारी, किसान, ऑफिसर एवं तथाकथित साधक के विकास के उद्देश्यों में क्या "अहं" का स्थान नहीं है ? अपने को अधिक से अधिक सुयोग्य, सक्षम एवं सफल बनाने एवं घोषित करने के प्रयासों के पीछे क्या अहं छिपकर नहीं बैठा है ? यदि यह जीवन उत्कर्ष का माप-दण्ड है तो क्या अधिकार है हमें कि हम उपर्युक्त क्रियाओं के द्वारा और कुछ, जो प्राप्य है, उसे पालें । वास्तव में हमने अपने समस्त कृत्यों को एक लघुतम अहं के साथ बांध दिया है । और यही कारण है कि हम साधना जैसे श्रेष्ठतम कृत्य से भी कुछ भी श्रेष्ठत्व की ओर अग्रसर नहीं हो पाते हैं ।

**लोहारा**
४ दिसम्बर

## प्रकृति एक अबूझ पहेली

प्रकृति की सुरम्य रचना, इसमें होने वाले सहज परिवर्तन एवं अदृष्ट के अचूक थपेड़ों को देखकर कभी–कभी स्तब्ध अथवा हतप्रभ-सा रह जाना पड़ता है । बुद्धि उनकी गहराईयों को नापने में अपने आपको असमर्थ पाती है । शायद इसीलिये दिव्यालोकी तीर्थङ्कर महावीर ने कहा है— "तक्का तत्थ न विज्झई, मइ तत्थ न गाहिया" । अर्थात् कुछ प्रकृति तथा विकृति के दृश्य ऐसे हैं, जहाँ न तो तर्क पहुंच सकती है और न बुद्धि । अपने क्रिया-कलापों में ऐसी संख्यातीत घटनाएँ घट जाती हैं, जिनकी हम कभी कल्पना नहीं करते हैं और उन्हें अदृष्ट का अचूक प्रभाव अथवा चमत्कार कहकर छोड़ देते हैं । किन्तु विचारणीय है कि चमत्कार कह देने भर से हम उनके प्रभाव से बच सकते हैं क्या ? यदि नहीं, तो हमें उस अदृष्ट से जूझने का साहस अपने आप में संजोना होगा ।

**लोहारा**
५ दिसम्बर

# अनुष्ठानों का क्षुद्र उद्देश्य

हमारे बहुत कुछ क्रिया कलाप केवल इसलिये होते हैं कि हम दूसरों से श्रेष्ठ कहे जाना चाहते हैं। खान-पान, रहन-सहन ही नहीं, तथा-कथित क्रियायें भी हम इसलिए ठीक से करना चाहते हैं कि लोग हमें उत्कृष्ठ और दूसरों को निकृष्ट समझें। हम अच्छे और उच्च कोटि के साधक हैं, दूसरे हमारी श्रेणी में नहीं आ सकते हैं। वे हमारी जैसी कठोर साधना-क्रिया नहीं करते हैं। क्या इस भावना को साधक चित्त की भावना कहा जा सकता है? अथवा इससे क्या साधना में निखार आ सकता है? वास्तव में साधना जैसे पवित्रतम कृत्य को साधकों ने बहुत छोटे, ना कुछ उद्देश्यों में सीमित कर दिया है। इसलिये आज साधना का आनन्द खो गया है।

**लोहारा**
६ दिसम्बर

# जीवन-टिमटिमाता दीपक

इस भरे-भरे-से वायुमण्डल में हम जिस मुर्दा जीवन को ढोते जा रहे हैं, क्या इसे जीवन कहना संगत होगा? ऐसी स्थिति में हम अपने आपको जीवन्त चेतना के प्रतीक किंवा संवाहक कह सकते हैं? आज का प्रायः सम्पूर्ण जन-जीवन दीपक की बुझ-बुझाती लौ की तरह हो गया है। जब तक स्वयं में जिजीविषा का प्रादुर्भाव न हो, जीवन को जीवन कहना ही असंगत होगा। जिजीविषा से यहां तात्पर्य है कि हमारा जीवन इतने उत्साह, उमंग एवं आनन्द से भरा हो कि हमारे उस जीवन को सैंकड़ों व्यक्ति जीने को लालायित हो उठें। जब हममें उत्साह, उमंग एवं किसी ऐसे कार्य को कर गुजरने की तड़फ पैदा नहीं होती, जिसे कि हम जीवन की अर्थवत्ता को सिद्ध कर सकें, तो क्यों हम उसे जीवन कहें?

**लोहारा**
७ दिसम्बर

## विकृत अपनत्व

अपनत्व का भाव जब किसी एक सीमित दायरे में ही बन्ध जाता है तो उसका अपने रूप को विकृत कर देना सहज स्वाभाविक है। क्योंकि उस सीमा के बाहर सब कुछ पराया होता है और जहां अपनत्व एवं परत्व का भाव प्रादूर्भूत होगा तनाव, संघर्ष अनिवार्य होंगे। अपनत्व का विस्तार करने की अभीप्सा निसर्गतया बलवती होगी और उसकी प्रपूर्ति हेतु परत्व में अतिक्रमण होगा। आक्रामक एवं आक्राम्य की स्थिति में क्या आनन्द उपलब्ध हो सकता है? अस्तु यदि परम शान्ति, परम आनन्द की प्यास है, तो अपनत्व के दायरे को बहुत विराट, सर्वांगीण रूप देना होगा। इतना विराट कि जहां परत्व का भाव ही न हो। सब कुछ अपना ही अपना है। इसे ही तो 'वसुधैव कुटुम्बकत्व' कहते हैं।

**लोहारा**

८ दिसम्बर

## जीवन क्या है?

क्या हमने कभी अपने आपसे यह पूछा कि हम क्यों जी रहे हैं? क्या हेतु है हमारे जीने का? जीवन से सम्बद्ध प्रत्येक क्रिया के प्रति हम क्यों किस लिये का एक प्रश्नवाचक चिन्ह अवश्य लगा देते हैं। हम अध्ययन क्यों करते हैं, साधना क्यों करते हैं? किन्तु जीवन के सन्दर्भ में शायद ही हमने कोई 'क्यों' को लाकर खड़ा किया हो। जबकि यही एक महत्वपूर्ण प्रश्न है, जिसके विषय में हमें सजग होना है।

**लोहारा**

९ दिसम्बर

## जीवन एक छिपा कोष

व्यक्ति कभी अपने आपसे एकांत के क्षणों में पूछे कि सब आनुषंगिक कर्त्तव्य जिसके साथ जुड़े हुए हैं और उसके लिए एक लीक मिली है, क्या वही सार्थकता है, वही लक्ष्य है अथवा वह कुछ भिन्न है। यदि इस विषय में व्यक्ति ने गम्भीर चिन्तन किया तो निश्चित् यह जीवन अनन्त सम्भावनाओं का छिपा कोष मालूम पड़ेगा।

**लोहारा**

१० दिसम्बर

## भावुकतापूर्ण श्रद्धा

भावना प्रधान श्रद्धालु व्यक्ति को अपनी ग्रहीत श्रद्धा के विपरीत समझा पाना उतना ही कठिन है जितना कि एक शिशु को अपने खिलौने के विपरीत समझ देना। भावुक व्यक्ति की श्रद्धा में एक बालक-सा ही हठ छिपा रहता है, जिसमें समझ कम एवं ग्रहणशीलता अधिक होती है। श्रद्धालुचित्त समर्पण का चित्त होता है। वह अपने श्रद्धेय के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित होता है। बहुत बार तो यहां तक होता है कि श्रद्धेय की कुछ चरित्र विघातक विक्षोभ पूर्ण प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत हो जाने के पश्चात् भी श्रद्धालु अपनी श्रद्धा से तिलमात्र भी विचलित नहीं होता है। भले ही वह उसकी अन्ध-श्रद्धा ही क्यों न हो। किन्तु श्रद्धालु अपनी पूर्वाग्रह वृत्ति का पोषक होता है।

**लोहारा**

११ दिसम्बर

卐

# समस्या और साधक चित्त

बहुत बार एक सामान्य-सी समस्या अथवा सामान्य से प्रकरण क
लेकर मानस इतना उद्वेलित एवं तनावपूर्ण बन जाता है कि जैसे सि
पर कोई पहाड़ टूट पड़ा हो। विचारणीय है कि लघुतम प्रवृत्ति पर वि
क्षुब्ध हो उठने वाला मन, साधक मन कैसे कहा जा सकता है। क्या व
साधना मार्ग में प्रगति का कांक्षी बन सकता है? साधक चित्त का अ
ही है, विक्षोभों एवं तनावों से ऊपर उठा हुआ चित्त और यदि चि
प्रतिक्षण उद्वेलित रहता है तो वह साधक चित्त नहीं माना जा सकता
अस्तु हमारी साधना का प्रथम उद्देश्य होना चाहिये- तनावों से ऊप
उठने का प्रयास। हम जितने अधिक तनावों से ऊपर उठने के लि
पयत्नशील होंगे–साधना उतनी ही निर्मल होती जाएगी। अतः सामा
सी समस्याओं में ही उलझ जाना साधना से विचलित हो जाना है।

**मेड़ी**

१२ दिसम्वर

# दो अतियां

कुछ व्यक्ति समस्याओं के जटिल जाल में जीने के इतने अभ्यस्त हो
जाते हैं कि उन्हें समस्याओं से घिरे रहना और उनसे जूझते रहना ही
अच्छा लगता है, वही उनका प्रियतम कार्य हो जाता है। इसके विपरीत
कुछ व्यक्ति समस्याओं से इतने कतराते है कि एक छोटी-सी समस्या भी
उन्हें हिमालय की चोटी पर चढ़ने जैसी कष्टप्रद प्रतीत होती है। किन्तु
उपर्युक्त दोनों ही प्रकार के व्यक्तित्व अति पर हैं। एक शौर्य-प्रदर्शन की
अति पर है, तो दूसरा कायरता की अति पर। और अति सदा अवांछ-
नीय होती है। अस्तु, मध्यस्थ स्थिति में स्वस्थ चित्त का स्वभाव होता
है, न तो समस्याओं का जाल अपने इर्द-गिर्द बिछाना और न उनसे
कतराना।

**कुसुमकला**

१३ दिसम्वर

## गुण और परीक्षा

जब तक कोई प्रतिरोधात्मक शक्ति अथवा परिषहात्मक उपसर्ग उपस्थित न हो, हम अपने आपको उच्चतम साधक, क्षमाशील एवं साहसी मानने का दम्भ करते रहते हैं। किन्तु ज्यों ही विरोध विचार अथवा कठिन परीक्षण उपस्थित होते हैं, हम सहज से असहज हो उठते हैं और हमारा साधकपन, क्षमा स्वभाव एवं साहस न जाने कहाँ छूमन्तर हो जाते हैं? वास्तव में यह हमारा निराअज्ञान ही है कि हम अपनी ही दृष्टि में अपने आपको उच्च आदर्श पुरुष मानने का दुस्साहस कर बैठते हैं। यह हमारी एक क्षुद्रतम मनोवृत्ति ही है। क्या स्वयं के मान लेने से कोई विश्व सम्राट बन सकता है? जब तक प्रतिद्वन्द्वी के विरोधात्मक प्रहारों की चोट न पड़े, हमारी साहसिकता एवं आदर्श क्षमाशीलता का क्या अर्थ हो सकता है?

**दल्ली राजहरा**

१४ दिसम्बर

## प्रतिक्षा के क्षण

प्रतीक्षा का सुख एक अलग ही प्रकार का आनन्ददायी होता है। जब तक हम किसी उद्देश्य पूर्ति के प्रति प्रतीक्षारत रहते हैं, भीतर में एक उमंग भरा उल्लास रहता है, किन्तु जब उद्देश्य प्रपूरित हो जाता है और तज्जनित प्रतीक्षा समाप्त हो जाती है, तत्सम्बन्धी आनन्द भी नदारद हो जाता है। किसी प्रिय व्यक्ति की कामना में चित्त जितना प्रतीक्षारत एवं अभीप्सा से भरा रहता है, उसके मिलने पर दूसरे ही दिन वह चित्त का उत्साह ठण्डा पड़ जाता है। मिठाई की प्रतीक्षा में जो स्वाद दिखाई देता है, सम्भवतः उपभोग के क्षणों में वह स्वाद–आनन्द नहीं रह पाता है। अस्तु कभी-कभी प्रतीक्षा भी आवश्यक है, जो कि चित्त को एक अनूठे आनन्द से भरे रहती है।

**दल्ली राजहरा**

१५ दिसम्बर

# विशाल अध्ययन–वैचारिक क्षुद्रता

विशाल अध्ययन के उपरान्त भी विचारों की क्षुद्रता यह चिन्तन के लिए बाध्य करती है कि वह अध्ययन केवल शाब्दिक ही है, अनुभूति मूलक नहीं, और शाब्दिक अध्ययन वैचारिक परिष्कार में सक्षम नहीं हो सकता है। अतः आवश्यकता है शाब्दिक ज्ञान की परिधि से ऊपर उठकर अनुभूति–बोध तक पहुंचने की। विस्तृत अध्ययन न होकर सीमित अध्ययन हो, किन्तु यदि वह अनुभूतिपूर्ण हो तो निश्चित ही विचारों में भी विराटता का सृजन होगा।

डौंडी

१६ दिसम्बर

# कैसे–कैसे लोग

समीपवर्ती मकान में एक लड़का गुनगुना रहा है "न जाने कैसे–कैसे लोग होते हैं, दुनिया में"। और वास्तव में यह पंक्ति बड़ी तथ्यात्मक एवं मर्मस्पर्शी प्रतीत हो रही है। लाखों–करोड़ों तरह के व्यक्ति हैं और उन सबके व्यक्तित्व भी तो भिन्न-भिन्न प्रकार के ही होते हैं। क्या उन कैसे-कैसे लोगों में हम और खासकर गुन–गुनाने वाला भी नहीं है ?

डौंडी

१७ दिसम्बर

# अपना-पराया

प्रतिष्ठा अथवा चमत्कारों की चर्चा जब अपनी अथवा अपने सम्प्रदाय से सम्बन्धित होती है, तब प्राय: व्यक्ति सहज विश्वस्त हो उसे तर्कों एवं सैद्धान्तिक प्रमाणों से सिद्ध करने का भरसक प्रयास करता है। दैविक चमत्कार कह कर उसे अपने गुरु अथवा आराध्य के साथ संयुक्त कर उनकी गरिमा की श्रीवृद्धि का प्रयास करता है। किन्तु वैसी घटनाएं यदि किसी अन्य व्यक्ति अथवा सम्प्रदाय के सन्दर्भ में श्रवणगत होती हैं, तो वह उसे नकारने अथवा दिखावा एवं ढोंग समझने की स्थिति में पहुंच जाता है। वह यह मान बैठता है कि ऐसा हो ही नहीं सकता है। क्या यह उसके विचारों की अथवा वैचारिक जीवन की क्षुद्रतम वृत्ति नहीं है? स्पष्ट ही यह विवेकशून्यता है और आध्यात्मिक साधक के लिए अवांछनीय है। भौतिक सम्पदा के मोह से भी अधिक भयंकर है सिद्धान्त के प्रति हठवादी व्यामोह।

**दल्ली राजहरा**

१८ दिसम्बर

## साधक-एक विशेषज्ञ

चिन्तन जब कुछ सत्यस्पर्शी होता है, तो लगता है कि हम अपने आपको पूज्य, श्रद्धेय एवं आराध्य क्यों मान लेते हैं ? क्या अधिकार है हमें कि हम वन्दनीय बनें एवं सामान्य भावुक व्यक्तियों की वन्दना को स्वीकार करें ? अपने अहम् की पुष्टि के लिए ? क्या यह नहीं माना जा सकता है कि सभी अपने-अपने विषय के विशेषज्ञ हैं ? एक डॉक्टर अपने विषय का विशेषज्ञ है, तो एक वकील अथवा इन्जिनियर अपने विषय का ! क्या वे एक-दूसरे को वन्दनीय अथवा श्रद्धेय मान लेते हैं ? फिर साधक भी अपने साधनागत जीवन का विशेषज्ञ है। ऐसी स्थिति में क्यों अपने आपको वह वन्दनीय एवं पूज्य सिद्ध करने की भूल कर बैठता है ? हां, त्याग एवं जन-जीवन से अलग-थलग व्यक्तित्व के कारण यदि कोई वैसी श्रद्धा निर्मित करले तो वह निर्दोष है। किन्तु आज प्राय: स्थिति वैसी नहीं है। यदि उन्हें कोई पूज्य न माने तो वे तिल-मिला उठते हैं। श्रद्धालु अपने बिन्दु पर सही हो सकता है कि वह किसी मूल्य के प्रति, किसी गरिमा के प्रति नतमष्तक है। किन्तु जो गरिमाशाली है अथवा गरिमा के किसी मूल्य के प्रति समर्पित है, उसका ध्यान मूल्य पर होना चाहिए न कि श्रद्धालुओं पर।

**दल्ली राजहरा**
१६ दिसम्बर

# पूर्ण सत्य ?

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि प्रायः व्यक्ति अपने ही मार्ग अथवा पन्थ को ही पूर्ण सत्य मानता है। अतः वह उसी के प्रति समर्पित भी होता है। साथ ही उसे उस समय अत्यधिक प्रसन्नता होती है कि कोई अन्य मार्गों अथवा अन्य मत सम्प्रदायवादी अपने ग्रहीत मार्ग का परित्याग कर उसके मार्ग का अनुसरण करने लगे। चूंकि उसकी यह मान्यता है कि उसके द्वारा ग्रहीत मार्ग ही सत्य है, अतः इस परिप्रेक्ष्य में वह सोचता है कि उस व्यक्ति ने सत्य मार्ग प्राप्त कर लिया है, जो अभी तक किसी अन्य सम्प्रदाय में एक असत्य मार्ग का अनुगमन कर रहा था। किन्तु चिन्तनीय है कि 'एक के द्वारा ग्रहीत मार्ग ही सत्य एवं श्रेष्ठ है' इसकी कसौटी क्या है? जैसा वह मान रहा है, क्या वैसा अन्य भी नहीं मान रहा होगा? यह तथ्य है कि श्रद्धा एकांतवासिनी रहना नहीं चाहती, उसकी चाह रहती है कि जिसके प्रति हम श्रद्धा रखें, उसके प्रति अधिकाधिक अन्य लोग भी रखें। इससे उसे आश्वासन मिलता है कि हम किसी असत्य के प्रति श्रद्धावान नहीं हैं। प्रश्न उठता है कि वह श्रद्धेय के प्रति समर्पित रहना चाहता है अथवा आश्वासन के प्रति ?

**दल्ली राजहरा**
२० दिसम्बर

## साहस किस कार्य में अधिक ?

गौरव गरिमा को बढ़ाने वाले अच्छे कार्यों के लिए तो साहस, शौर्य अथवा पराक्रम की आवश्यकता होती ही है, किन्तु चोरी, व्यभिचार जैसे घिनौने दुष्कृत्यों के लिए भी कम साहस—दुस्साहस की आवश्यकता नहीं होती है। अपितु अच्छे कार्यों की अपेक्षा असत्प्रवृत्तियों के लिए अधिक ही शौर्य अपेक्षित होता है। क्योंकि वहां कार्य सम्पन्नता के साथ भयवृत्ति से भी जूझना पड़ता है।

ऐसे कार्यों में जो समाज के अथवा राष्ट्र के नैतिक नियमों के विपरीत हैं, प्रवृत्ति करते हुए व्यक्ति भयाक्रान्त रहता है। अतः उसमें साहस की मात्रा यदि अधिक नहीं हुई, तो वह ऐसे कार्यों में प्रवृत्ति नहीं कर पाएगा। क्या ही अच्छा हो कि हम अपने उस दुस्साहस को सत्साहस बना लें।

**दल्ली राजहरा, कुसुमकसा**
२३ व २४ दिसम्बर

# नेत्र मिलन के सम्बन्ध

**दो** नितान्त अपरिचित आत्माओं का केवल नेत्रोन्मीलन मात्र से जो आत्मीय स्नेह सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, यह स्पष्ट सिद्ध करता है कि आंखों की भाषा अबूझ, किन्तु अमित प्रभावशालिनी होती है। जिस व्यक्ति से दैहिक सामाजिक, पारिवारिक और धार्मिक कोई भी सम्बन्ध नहीं होता है, नेत्रों का सन्बन्ध मात्र, उससे भी अभिन्न सूत्र में बांध देता है। लगता है समस्त इन्द्रियों–अवयवों में नेत्र की कमनीय–आकर्षकता ही सर्वतो महत् होती है। इसके द्वारा व्यक्ति न जाने कितनों से अपनत्व स्थापित कर लेते हैं। कई वक्त शरीर के अन्य अवयवों के कुरूप होने पर भी केवल नेत्र ही आकर्षण के कारण होते हैं, जो अपने अभिप्रेत को वरबस अपनी ओर खींच लेते हैं।

हाँ दृग्मिलन का उपयोग दोनों दिशाओं में किया जा सकता है। ज्ञानी व्यक्ति आत्मीय–चैतन्य दृष्टि से चेतन को जगाता है, तो मोही मोहाक्रान्त होकर मातृत्व, पुत्रत्व, पत्नीत्व आदि सम्बन्धों से सम्बन्धित बनता है। नेत्र वे ही हैं किन्तु दृष्टि में अन्तर आते ही उनकी वक्रता में भी कितना अन्तर पड़ जाता है। सामान्य-सी भाव–भंगिमा के अन्तर मात्र से कितने अर्थ–अनर्थ सिद्ध हो जाते हैं? वास्तव में नेत्र अपने आपमें निर्दोष ही होते हैं?

दृश्यों के प्रति आने वाला विकार पूर्ण रागात्मक भाव ही दृष्टि दोष का कारण है। यदि हमारी दृष्टि वासनात्मक राग से अनुरञ्जित न हो, तो उससे जो स्नेह बरसेगा, निश्चित अमृत का निर्झर ही होगा। अतः आवश्यक है कि हम दृष्टि को राग से ऊपर विराग की भूमिका तक ले जाएँ और उनका सही दिशा में उपयोग करें।

**बालोद**

२५ व २६ दिसम्बर

# विशेषणों की अर्थवत्ता

**क्या** परिचय के लिए केवल नाम का आरोपण पर्याप्त नहीं है ? नाम चूंकि आरोपित होता है, अतः किसी व्यक्ति के सही परिचय के लिये विशेषणों का प्रयोग आवश्यक है। विशेषण हमें आरोपित नाम से हटाकर सही परिचय और पहचान में सहायता करता है। महाकवि कालिदास की काव्याभिव्यक्ति का प्राण है, उनकी उपमाएँ और विशेषण। विशेषण और उपमाओं से सत्य जगमगा उठता है, हम उसके निकट पहुंच जाते हैं। अतः आवश्यक है कि विशेषणों, उपमाओं उपाधियों का प्रयोग नियंत्रित रूप में और निष्ठापूर्वक हो, किन्तु ऐसा होता नहीं है। अब तो विशेषणों का धुआँधार प्रयोग होने लगा है। अतः विशेषण भी आरोपित होने लगे हैं। वे स्वरूप को उजागर अथवा चमत्कृत नहीं करते वल्कि उसे ढक देते हैं। वे लोग, जो सावन के मेघों की भाँति विशेषणों की झड़ी लगाते हैं, कुशल माने जाने लगे हैं। किन्तु क्या यह वास्तविकता नहीं है कि वे जीवन में सत्य को ढकने का कार्य कर रहे हैं ? वे प्रवंचक सिद्ध होते हैं और आत्म प्रवंचना तथा पर-प्रवञ्चना दोनों ही उनकी परिधि में आते हैं। किन्तु जगत की गति भी विलक्षण है। यहाँ प्रवंचना को प्रभाव माना जाने लगा है और तीव्र प्रवंचक को विशेष प्रभावशाली स्वीकार किया जाने लगा है। प्रभावशीलता के लोभ में विशेषणों के वेरोक प्रयोग की एक सनक भी समाज में व्याप्त होती जा रही है।

इस सनक के पीछे खुशामद की मनोवृत्ति विशेष रूप से कार्य करती है। कहा भी गया है कि यश की कामना मानव मन की सबसे वड़ी कमजोरी है। किन्तु विवेकशील व्यक्ति विशेषणों-उपाधियों के आघात-प्रतिघात के बीच आत्म-निरीक्षण करता रहता है।

आराध्य और उपास्य के प्रति सर्वश्रेष्ठ विशेषणों का व्यापक प्रयोग भी कल्याणप्रद है। इससे उपासक अथवा आराधक व्यक्ति पूजा से हटकर गुण-पूजा में प्रवेश कर जाता है। किसी इष्ट अथवा शक्ति की

वन्दना करते समय यदि हम सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, निर्विकल्प आदि विशेषणों का समर्पण करें तो हमारी वन्दना ईश्वर की वन्दना बन जाती है, क्योंकि ज्ञानात्मना, सर्वव्यापी, सर्व शक्तिमान केवल वही हो सकता है। गुरु-पूजन भी इसी बुनियाद पर गुण-पूजन बनकर ईश्वर-पूजन हो जाता है।

**बालोद**

२७ व २८ दिसम्बर

# एक विशेषण—बाल ब्रह्मचारी ?

विशेषणों की लम्बी-चौड़ी लिस्ट में एक विशेषण पर जरा गहरी दृष्टि जाती है, वह है-'बाल ब्रह्मचारी ।' क्या आवश्यकता है इस विशेषण की ? क्या इसके लगाए बिना साधक का व्यक्तित्व अधूरा रहता है, अथवा बाल ब्रह्मचारीपन प्रदर्शन की वस्तु है ? वास्तविकता तो यह है कि आज के परिवेश में यह विशेषण बिरल कोटि के महापुरुषों को छोड़कर, संगत ही नहीं होता है । मनसा-वाचा-कर्मणा आत्म नियन्त्रित एवं विकार जयी व्यक्तित्व ही— 'बाल ब्रह्मचारी' के विरूद से शोभित हो सकता है । क्या आज के इस तड़क-भड़क पूर्ण भौतिक इन्द्रियाँकर्षण युक्त चकाचौंध में मानसिक शुद्धता रह पाती है । यदि हो भी तो क्या वह प्रदर्शन के लिये है ।

अत: अन्य विशेषणों को गौण कर कम से कम 'बाल ब्रह्मचारी' विशेषण पर अवश्य चिन्तन अपेक्षित है । अन्यथा यह भी अपने एवं सामान्य जन के साथ एक अर्थपूर्ण छलावा ही होगा । व्यक्ति अन्तर में जैसा नहीं है, वैसा दिखाने का उसका जो प्रयास होगा, वह आत्म-पतन का ही मार्ग होगा । आत्म-साधक के लिए यह नितान्त चिन्तनीय विषय है, ताकि वह मनस्तुष्टि से ऊपर आत्मतुष्टि तक पहुंच सके । चूंकि विशेषणों के द्वारा मनस्तुष्टि भर हो सकती है, आत्मतुष्टि नहीं, आत्मतुष्टि के लिये उसे विशेषण-विशेष्य भाव से ऊपर उठना होगा । वहाँ किसी प्रकार का विशेषण अर्थवान् नहीं होगा । केवल 'अपयस्स पयंनत्थि' वाला आगम वाक्य ही शेष बचेगा ।

**बालोद**

२९, ३० व ३१ दिसम्बर, १९७८